ण मंथन

— आचार्य भास्करानन्द लोहनी

पुराण-मंथन

अष्टादश महापुराण तथा अन्य प्राचीन संस्कृत साहित्य पर आधारित
प्राचीन भारतीय ज्ञान-विज्ञान एवं भौगोलिकी का
तुलनात्मक विवेचन

लेखक :—
आचार्य भास्करानन्द लोहनी
[निदेशक—अखिल भारतीय ज्योतिर्विज्ञान तथा सांस्कृतिक शोध परिषद]

आग्रहायण प्रकाशन
१५ चाँदगंज गार्डन, लखनऊ-२२६०२०

PURAN MANTNAN

By Achirya Bhaskaranand Lohani

* प्रथम संस्करण : २०५० वि० (१९९३ ई०)

* मूल्य रु० १२५/—

* प्रकाशक :
आग्रहायण प्रकाशन
१५ चांदगंज गार्डन, लखनऊ—२०

* मुद्रक : चेतना प्रिंटिंग प्रेस,
२२ कैसरबाग, लखनऊ

प्राक्कथन

पाश्चात्य सभ्यता के अनुगामी बहुत से लोग आज पुराणों को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं, और उन्हें आधुनिक उपन्यासों से निम्न स्तर का मानते हैं। वास्तव में यह अपनी-अपनी बुद्धि और ज्ञान पर ही आधारित है। समुद्र की गहराई क्या है ? इसका पता समुद्र के किनारे ज्वार के पानी में नहा लेने से नहीं चलता। इसी तरह केवल पुराणों पर एक दृष्टि-पात कर लेने से ही पुराणों की विवेचना नहीं हो सकती है—एतदर्थ मनोवैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से पुराणों का गूढ़ अध्ययन और मन्थन की आवश्यकता है। जिन लोगों ने वास्तव में पुराणों का मनन किया है उन्होंने पुराणों की महत्ता और उपादेयता को स्वीकार किया है। केवल भारतीय ही नहीं अपितु अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने भी पुराणों की प्रामाणिकता और प्राचीनता स्वीकार की है। विष्णु पुराण के अंग्रेजी अनुवादक श्री०एच० विलसन ने तो यहाँ तक कहा है कि पुराणों की इतनी प्राचीनता सिद्ध की जा सकती है, जो बात पृथ्वी की किसी भी जाति की कल्पना में भी नहीं की जा सकती।, इसी प्रकार ईडन पार्जिटर ने भी वैदिक वंशावली की अपेक्षा पौराणिक वंशावली को अधिक प्रामाणिक मानकर पुराणों को अतीव प्राचीन काल का माना है। विद्वानों का यह कथन यथार्थ सत्य है—वैदिक साहित्य में पुराणों का वर्णन यह सिद्ध करता है कि अधिक नहीं तो कम से कम वेदों के समकालीन पुराण अवश्य हैं। इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से पुराणों का महत्व है।

दूसरी ओर पुराण भारतीय संस्कृति के स्तंभ रूप हैं। पुराणों से ही कला तथा साहित्य को प्रेरणा मिली। देश के इतिहास में पुराणों का जो स्थान रहा है—वह महान् है। पाश्चात्य संस्कृति के अनुगामी होते भी जैसा कि हमारे प्रधान मंत्री स्व० नेहरू ने कहा है—

"हजारों साल से हमारे देश की हर एक पीढ़ी के असंख्य लोगों की जिन्दगी का ताना-बांना रामायण, महाभारत और पुराणों से बना है। मैं अक्सर सोचता हूं कि अगर हम रामायण, महाभारत और बुद्ध को भूल जायें तो हमारे पास क्या रह जायगा। तब हमारी जड़ें कट जायेंगी और हम अपने चरित्र की उन मूल विशेषताओं को खो देंगे, जो युगों से हम में चली आ रही हैं और जिनके कारण हम बने हैं। तब भारत भारत न रह जायगा।" वास्तव में श्री नेहरू जी का यह कथन यथार्थ है।

पुराणों का महत्व और भी अनेक दृष्टियों से आँका जा सकता है। पुराणों ने वेद के अगम्य ज्ञान को जन साधारण के हेतु सुलभ किया, द्विजातेतर जातियों के उत्थान एवं सामाजिक उत्थान में योग, सामान्य कथानकों को विशिष्ट रीति से उपस्थित कर चरित्र निर्माण में योग, सामाजिक एवं पारिवारिक वैमनस्यता का निराश, और बौद्ध, क्रिश्चियन तथा इस्लाम सस्कृति से आर्य संस्कृति की रक्षा में पुराणों की महत्वपूर्ण भूमिका है।

आज तर्क एवं विज्ञान का युग है, जब पुराणों की रचना हुई तदनुकूल पुराणों की शैली उचित थी। किन्तु आज के युग में पौराणिक कथानकों पर जन साधारण में अनेक शंकायें हैं, पुराणों के अतिरंजित और रहस्यमय वर्णन तर्क-सिद्ध नहीं है—इससे जन साधारण की श्रद्धा पुराणों से हट रही है। इस दिशा में ऐसी पुस्तकों का अभाव है जिनमें पुराणों से सम्बन्धित शंकाओं का समाधान हो, और पुराणों के अतिरंजित एवं रहस्यमय वर्णन का उद्देश्य और उसका आधुनिक विज्ञान तथा तर्क-सम्मत समाधान हो।

खगोल शास्त्र, वास्तुशिल्प, मूर्तिकला, आयुर्वेद, पशुचिकित्सा, पशुपालन पादप विज्ञान (बाटनी), ज्यौतिष, भूगर्भ विज्ञान, तंत्र, मंत्र, यंत्र, रक्षाशास्त्र, भूगोल, इतिहास, गणित, काव्य, नाटक, व्याकरण, कथा साहित्य, राजनीति, धर्म, दर्शन, उपासना, सामाजिक शास्त्र आदि ज्ञान-विज्ञान के सभी विषय पुराणों में उपलब्ध हैं, कोई भी ऐसा विषय नहीं है जिससे पुराण अछूते हों।

यद्यपि होमियोपैथी को व्यावहारिक रूप से जन्म देने का श्रेय जर्मनी के महर्षि सेम्युअल हैनीमेन को दिया जाता है, लेकिन इसका सूत्र हमें भागवत महापुराण में सहज रूप से प्राप्त होता है—

आमयेयश्चभूतानां जायते येन सुव्रत।
तदैव ह्यामयं द्रव्यं न पुनाति चिकित्सकम्॥

—भागवत १/५/३३
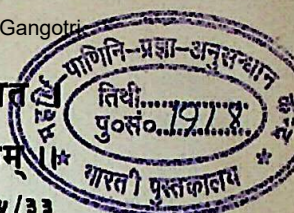
अर्थात् प्राणियों को जिस पदार्थ के सेवन से जो रोग उत्पन्न होता है, वही पदार्थ चिकित्सा विधि से प्रयोग करने पर रोग को दूर भी करता है।

इसी प्रकार पुरातन होते भी अग्निपुराण (११६/५५) में सूचिका (सुई लगाकर) द्वारा चिकित्सा करने का वर्णन है। आवश्यकता शोध करने की है।

इस पुस्तक में मैंने न केवल अष्टादश महा पुराणों का तुलनात्मक विवेचन किया है अपितु वेदों, उपनिषदों, आरण्यकों, ब्राह्मणग्रंथों, स्मृतियों उपपुराणों समेत महाभारत रामायण सहित पुराणों के समकालीन अन्य वैज्ञानिक संस्कृत साहित्य के आधार पर भारतीय ज्ञान-विज्ञान संस्कृति साहित्य एवं तत्कालीन विश्व की भौगोलिक स्थिति का तथ्यपरक तर्कपूर्ण एवं वैज्ञानिक विश्लेषण करने की चेष्टा की है।

यह निःसंकोच स्वीकार किया जा सकता है कि समय-समय पर पुराणों में परिवर्धन व परिवर्तन होता रहा है लेकिन मूल रूप में पुराण वेदों के ही समकालीन हैं और भारतीय ज्ञान-विज्ञान के अजस्र भंडार हैं।

मुझे इस बात पर प्रसन्नता है कि विश्व के जिस प्राचीनतम भौगोलिक चित्र को मैंने वेदों, पुराणों और भौगोलिक ग्रंथों के आधार पर खींचा है उसका वही रूप पुरातत्व वेत्ता, नृतत्वविद, भूवैज्ञानिक लोग भी मानते हैं। इस प्रकार हमारे वैदिक साहित्य, खगोल विषयक साहित्य, पुरातत्व और आधुनिक विज्ञान का एक मत होना अवश्य ही शुभ लक्षण है।

मुझे विश्वास है कि इस पुस्तक के प्रकाशन से हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि होगी और पुराणों के बारे में भ्रान्तियाँ दूर होंगी। भारतीय संस्कृति के अनुरागियों के प्रति यह मेरी तुच्छ भेंट है।

१५ चांदगंज गार्डन लखनऊ—२२६०२०

—भास्करानन्द लोहनी

विषय-सूची

ज्ञान विज्ञान खण्ड—

१—पुराणों की परम्परा और पृष्ठ भूमि ... ६
२—पुराणों का सृष्टि वर्णन और युग व्यवस्था ... १७
३—सृष्टि का विकास क्रम ... २६
४—पौराणिक कथानकों में मानवीय मूल्यों की प्रस्थापना ... ३३
५—पुराणों के शंकापूर्ण स्थल और समाधान ... ४०
६—पुराणों में परिवर्तन और परिवर्धन ... ४८
७—पुराणों से साहित्य तथा कला को प्रेरणा ... ५१
८—आर्य संस्कृति की रक्षा में पुराणों की भूमिका ... ५६
९—पुराणों की उपासना पद्धति और मूर्ति तथा लिंग पूजा ... ६३
१०—पुराणों की दृष्टि में कर्तव्य और नैतिकता ... ७०
११—ब्राह्मण ग्रंथ तन्त्र और पुराण ... ७६

भौगोलिक खण्ड

१२—पुराणों में वर्णित प्राचीन भूगोल-खगोल ... ८४
१३—अंगारा और गोंडवाना ... १०२
१४—भारत खंड या एशिया ... १११
१५—हमारी पृथ्वी-जम्बूद्वीप या सुदर्शन द्वीप ... १२४
१६—समुद्र में निमग्न-भद्राश्वखंड ... १२६
१७—उत्तर कुरु—अमरीका ... १३०
१८—केतुमाल खण्ड: योरोप और अफ्रिका ... १३८

रक्षाखण्ड

१९—प्राचीन भारत में सैन्य व्यवस्था और युद्ध विज्ञान ... १४३
२०—धनुर्वेद : संक्षिप्त परिचय ... १५०

२१—मंत्रयुक्त शस्त्र : दिव्यास्त्र ... १५५
२२—प्राचीन भारत में लोक तंत्रीय शासन प्रणाली ... १६१
२३—कतिपय प्राचीन आयुध और उनका स्वरूप ... १६४
२४—प्राचीन भारत में शासन तंत्र ... १६६
२५—बाह्य तथा आन्तरिक सुरक्षा ... १७४
२६—राष्ट्र रक्षा के प्रति जन भावना — १७७
२७—पुराण कालीन प्रमुख भारतीय प्रदेश या राज्य — १८३

चित्र सूची

प्राचीन विश्व का मानचित्र — १८२

पुराणों की परम्परा और पृष्ठभूमि

वास्तविकता से अनभिज्ञ और पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित लोग आज पुराणों को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं, और पुराणों की कहानियों की तुलना कपोल कल्पित उन गप्पों से की जाती है जिन्हें प्राय: छोटे बच्चों के प्रति कहा जाता है। किन्तु जिन लोगों ने मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण से पुराणों का अनुशीलन किया है, वे वास्तविकता से पूर्णत: परिचित हैं। अनेकों प्राच्य तथा पाश्चात्य विद्वानों ने पुराणों को प्राचीन कथा माइथोलाजी का स्वरूप माना है किन्तु वहीं पर पार्जिटर आदि विद्वानों ने यह प्रमाणित किया है कि पौराणिक कथायें मिथ्या नहीं हैं अपितु तथ्य को प्रकट करती हैं, उनके मतानुसार वैदिक वंशावली की अपेक्षा पौराणिक वंशावली अधिक प्रामाणिक है।

पुराणों की रचना

पौराणिक साहित्य के अध्ययन करने से पहले यह जान लेना अत्यावश्यक होगा कि पुराणों की रचना कब हुई, यद्यपि विदेशी विद्वान (विद्वान ?) साधारणत: ईसा से ३००, ४०० वर्ष पहले मानते हैं, यहाँ पर इस बात पर तो सभी सहमत हैं कि सभी पुराणों की रचना एक साथ नहीं हुई है, समय-समय पर—जिसका उल्लेख आगे किया जायगा—उनमें संशोधन, परिवर्तन और परिवर्द्धन भी हुआ है, परन्तु पुराणों की मूल रचना ३०० वर्ष ईसा पूर्व कदापि नहीं है। मि० ईडन पार्जिटर तो पुराणों को अतीव प्राचीन काल की रचना मानते हैं, तथा विष्णु पुराण के अंग्रेजी अनुवादक मि० एच० विलसन ने पुराणों के सम्बन्ध में लिखा है—

'क्राइस्ट व ईसा के तीन सौ वर्ष पहले तो पुराणों की रचना हुई ही है, किन्तु इस विषय में और जो प्रमाण देखे जाते हैं, उनसे तो और भी अधिक दिनों की क्या, पुराणों की इतनी प्राचीनता सिद्ध की जा सकती है, जो बात पृथ्वी की किसी भी जाति की कल्पना में भी नहीं आ सकती।'

नि:सन्देह पुराणों की मूल रचना अतीव प्राचीन है, इसका मुख्य प्रमाण यह है कि वैदिक साहित्य में पुराणों का उल्लेख होना पुराणों का वेदों के समकालीन सिद्ध कर देता है।

छान्दोग्योपनिषद् में अपनी पठित विद्याओं का वर्णन करते हुए नारद ने सनत्कुमार जी से यह कहा है कि मैंने पुराणों का भी अध्ययन किया है—

'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थं—मितिहास पुराणं पंचमं वेदानांवेदं...........'

—(छान्दोग्योपनिषद ७।१।२)

अथर्ववेद के ११।७।२४ ऋचा में पुराणों को वेदों का समसामयिक घोषित किया गया है—

'ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिविदेवा दिविश्रितः ।।

इसी प्रकार शतपथब्राह्मण में पुराणों के अध्ययन का महत्व वर्णन किया गया है और वैदिक यज्ञों में होने वाले सुप्रसिद्ध अश्वमेध यज्ञ में पुराणों का पठन करने को कहा गया है—

'य एवं विद्वान् वाकोवाक्यमितिहास पुराणमित्यह रहः स्वाध्याय मधीते त एनं तृप्तास्तर्पयन्ति सर्वैः कामैः सर्वे भोगैः।'

—(११-५-७-९)

''तानुपदिशति पुराणं वेदः सोऽयमिति किंचित्पुराण—माचक्षीतैवमेवाध्वर्युः सप्रेष्यति।' (१३।४।३।१३)

गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्रों में भी पुराणों का उल्लेख मिलता है—

माँगल्यानीतिहासपुराणानि'

—आश्वलायनगृह्यसूत्र ४।६

'अथ पुराणे श्लोकावुदाहरन्ति—'

—आपस्तम्ब धर्मसूत्र १।१९।१३

'यो हिंसार्थं मयिक्रान्तं हन्ति मन्युरेव मन्युं स्पृशति न तस्मिन् दोष इति पुराणे'

—आपस्तम्ब धर्मसूत्र १।२९।७

'अथ पुराणे श्लोकावुदाहरन्ति—'

—आ० ध० २।२३।३

'पुनः सर्गे बीजार्था भवन्तीति भविष्यत्पुराणे।'

—आ० ध० २।२४।६

यहाँ पर केवल पुराणों का उल्लेख ही नहीं है, अपितु पुराणों से उद्धरण दिये गये हैं। वैदिक साहित्य में पुराणों की विद्यमानता से वेदों के समान ही पुराणों की प्राचीनता सिद्ध हो जाती है, भले ही उस समय उनका स्वरूप दूसरा हो। वेदों की आयु 'वैदिक साहित्य और संस्कृति' नामक पुस्तक में मैने पृथक् से सिद्ध की है।

वेद और पुराणों का सम्बन्ध

वेद और पुराणों में कोई अधिक भिन्नता नहीं है, वैदिक तत्व ही पुराणों में प्रतिपादित किये गये हैं। अन्तर केवल इतना है कि जिस वैदिक साहित्य के अध्ययन और श्रवण का अधिकारी केवल द्विजाति वर्ग ही था, (यह अधिकार केवल द्विजातियों को संभवत: इसी निमित्त दिया गया कि यह ज्ञान रहस्यमय तथा जन साधारण के समझ से परे है) वहाँ पुराण सभी वर्णों के लिये खुला था, पुराणों का विषय स्त्रियों, शूद्रों, पतितों और द्विजातियों सभी के लिये पठनीय था (वैदिक साहित्य में शूद्र और स्त्रियां भी सूक्तकार हुई हैं, और उन्हें वेदों में द्विजातियों के समान ही अधिकार था, किन्तु वे जन्मना शूद्र थे न कि कर्मणा। यहां पर द्विजाति को ही वेदों में अधिकार था—इस कथन का तात्पर्य कर्मणा है, न कि जन्मना)।

वेदों में प्रतिपादित विषय को पुराणों में इस प्रकार लिखा गया, जिससे यह कथा के रूप में रुचिकर और मनोरंजक हो जाय, क्योंकि वैदिक साहित्य में जिस संक्षिप्त तथा आध्यात्मिक रूप में विषयों का प्रतिपादन किया गया है, जन साधारण की समझ से वह बाहर है, वह ज्ञान केवल विद्वानों के हेतु उपयुक्त है, और प्रतिपादित विषय ठीक से समझ में न आने से उसमें अरुचि और संशय हो जाता है। एतदर्थं जन साधारण के समझ में आने योग्य कथाओं के रूप में जिससे मनोरंजन भी हो जाय, वैदिक साहित्य का परिवर्तित स्वरूप ही पुराण हैं। आधुनिक युग में हम कहानियों और उपन्यासों के प्रति सोच सकते हैं, इन्हें लोग क्यों पढ़ते हैं? जबकि वे कल्पना से ओत-प्रोत: हैं, सत्य का कहीं अंश भी नहीं—इस तथ्य को जानते हुए भी अमूल्य समय नष्ट करके इनका पाठन किया जाता है, आखिर क्यों? वस्तुत: कथा-साहित्य में मानव की स्वभावत: रुचि होती है, और मनोरंजन का भी यह एक माध्यम है। एतदर्थं कथा साहित्य के द्वारा धार्मिक तथा सांस्कृतिक प्रसार भी पुराणों का उद्देश्य रहा—क्योंकि वैदिक नीरस साहित्य से यह कार्य सम्भव न था।

इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि उपनिषदों में भी कथासाहित्य प्रचुर रूप में पाया जाता है, यह उसकी प्रारम्भिक अवस्था रही होगी। यदि

पुराणों में वैदिक साहित्य को उसी रूप में दिया जाता, तो वेद और पुराणों में कोई भेद नहीं रह जाता। जिस प्रकार कहानियों और उपन्यासों में आकर्षण, सामंजस्य, कौतूहल, उद्देश्य, चरित्र और वातावरण का समावेश करने का प्रयत्न किया जाता है, जिससे कथा रुचिकर हो उसी प्रकार वैदिक तथ्यों को रुचिकर स्वरूप देने के लिये पुराणों में भी काल्पनिक पुट दी गई है, किन्तु वास्तविक भावार्थ दूसरा ही है।

इसका स्वरूप हमें भागवत महापुराण के पुरजंयोपाख्यान में मिलता है, वहाँ देह को एक चक्रवर्त्ती सम्राट का स्वरूप देकर उसके विशाल वैभव, और फिर पतन की कहानी है। इस कथानक को पढ़ने पर यही आभास होता है—मानो वह सत्य कथानक हो। किन्तु उसी स्थान पर पुराणकार ने अपनी कल्पना का पर्दा स्वयं हटाकर बतलाया है कि यह एक जीव की कहानी है, जन्म से मरण तक वह संसार के प्रवाह में कैसा बहता है, और कैसी दुर्गति अन्तत: होती है, उसी का वर्णन है, यदि स्वयं पुराणकार यह पर्दा नहीं हटा देता तो शायद ही मानव-बुद्धि के समझ में यह तथ्य आता। वास्तव में दार्शनिक विषय पर यह अत्युत्तम कहानी है। इसी प्रकार अन्य कथानक जो दार्शनिक तथा आध्यात्मिक भावना से पूर्ण हैं, किन्तु उनका भावार्थ निकालना आज सुलभ नहीं है, और न पुराणकार ने उक्त कथानक की तरह सभी कथानकों का काल्पनिक आवरण हटाया है। मार्कण्डेय पुराण की देवी कथा 'दुर्गा-सप्तशती' वास्तव में 'शक्ति' की महत्ता का आध्यात्मिक वर्णन और सृष्टि के आरम्भ में सृजनकारी तथा विनाशकारी प्रकृतियों का संघर्ष-वर्णन है, जिसमें महाकाली (मानसिक शक्ति-आत्मविश्वास) महालक्ष्मी (संगठनात्मक सामूहिक शक्ति) और महा सरस्वती (बौद्धिक शक्ति) के महत्व को इस स्वरूप में वर्णित किया गया है, जो एक सत्य कथानक ही मालूम होता है।

वैदिक कथानकों का ही पौराणिक स्वरूप

वस्तुत: पुराण वैदिक सूक्तों की ही विस्तृत व्याख्या करते हैं। पुराणों का अधिकाँश अंश विभिन्न अवतारों और उनके चरित्रों से सम्बन्धित है और अवतारों की यह कथायें वेदों में केवल सूत्र रूप में प्राप्त होती हैं। जिन्हें पुराणों ने विस्तार से वर्णन किया है।

अवतारों की चर्चा करते हुए अथर्ववेद (५।१।१।२) कहता है—

'आयोधर्माणिप्रथम: ससाद ततो वपुंसि कृणुषे पुरूणी'

बहुत-सी पौराणिक कथाओं के बीज वेदों में उपलब्ध हैं, उर्वशी, पुरुरवा आदि के वार्तालापों के कथानक विद्यमान हैं। अथर्ववेद में ही वाराह भगवान् के अवतार का उल्लेख है—

'वाराहेन पृथिवी संविदाना'

—अथर्ववेद १२।१।४८

यही कथा तैत्तरीय ब्राह्मण में भी मिलती है—इस जलमय क्षेत्र में प्रजापति ने सृष्टि निर्माण हेतु अनेक प्रयत्न किये। अन्त में उन्हें एक कमल पत्र दृष्टिगोचर हुआ, अवश्य ही इस कमल पत्र का कुछ आधार होगा ही, यह सोचकर वाराह रूप धारण कर वे जल में घुसे जहाँ उन्हें पृथ्वी मिली—

'आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्।
.........स वराहो रूपं कृत्वो—
पमन्यमज्जत्। स पथिवीमध आच्छंत्।
तस्याउपहत्योदमज्जत्।

—तैत्तरीय ब्राह्मण १।१।३।५।७

वामनावतार का संकेत ऋग्वेद के विष्णुसूक्त में मिलता है—

'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
स मूढ़मस्य पांसुरे ।।

— ऋग्वेद १।२२।१७

शतपथ ब्राह्मण में भी प्रकारान्तर से यह कथानक दिया है—

'वामनो ह विष्णु रास ।
....
....
तेनार्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुस्तेनेमां सर्वा पृथिविं
समविन्दन्त ....।।

—शतपथब्राह्मण १-२-५-५।९

इसी प्रकार मत्स्यावतार के सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण में कहा है—

'मनवे हवैप्रात रवनेग्यमुदक माजहुर्यथेदं पाणिभ्यां—
अवने जनाया ऽऽ हरन्त्येव तस्या ऽ वनेनिजानस्य
मत्स्यः प्राणी आपेदे।...... ....
....तेनैतमुत्तरगिरिमतिदुद्राव ।

—शतपथ ब्रा० १-८-१-१।५

तैत्तरीय आरण्यक (१-२३-१।९) में कूर्मावतार का वर्णन है। नृसिंहा-वतार के सम्बन्ध में भी प्रकारान्तर से उल्लेख मिलते हैं—

'प्रह्लादो ह वै कायाधवः। विरोचनं स्वं पुत्रमुदाहयत्।'

—तैत्तरीय ब्रा, १।५।१०।७

'हिरण्याक्षो अयोमुखः, रक्षसां दूत आगतः'

—तैत्तरीय आरण्यक ४।३३

परशुरामावतार के कथास्रोत अथर्ववेद में उपलब्ध है—

'भृगुं हिंसित्वा सृञ्जया वैतहव्याः पराभवम्'

(५।१९)

राम कृष्ण अवतारों की कथा यद्यपि वैदिक साहित्य में उपलब्ध नहीं है, सम्भव है यह अंश न हो—क्योंकि कृष्णावतार से पहले वेदों की रचना हुई, अथवा वेदों का जो भाग आज अप्राप्त है, उसमें यह अंश रहा हो—ज्ञातव्य है कि आजकल वेदों का केवल सौवा भाग प्राप्त है, शेष ९९ भाग काल के प्रवाह में नष्ट हो चुके हैं। भगवान के अवतार अनेक हैं :—

अवताराह्यसंख्येया हरेः सत्वनिधेर्द्विजाः

इनमें हिरण्यगर्भ (मूलब्रह्म), वराह, नारद, नर-नारायण, कपिल, दत्तात्रेय, यज्ञ, ऋषभ, पृथु, मत्स्य, कूर्म, धन्वन्तरि, मोहिनी, नृसिंह, वामन, परशुराम, व्यास, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि यह २१ मुख्य हैं, जिनके कथानक विस्तार से पुराणों में वर्णित हैं।

इन २१ में भी मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, राम, परशुराम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि (भविष्य में) अवतार मुख्य हैं।

मत्स्यः कूर्मोऽथ वाराहो नारसिंहोऽथ वामनः।
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्ध कल्कि च ते दशः॥

पुराण, महाभारत तथा रामायण तो राम और कृष्ण की महत्ता प्रति-पादक हैं ही, यहां तक कि इनमें अधिकांशतः रामावतार और कृष्णावतार की ही लीलाओं का वर्णन है। पुराणों में राम और कृष्ण को दशावतारों में माना है, अतः वे उपास्य हैं ही, इसमें कोई सन्देह नहीं। वैदिक साहित्य से भी एक तैत्तरीय श्रुति के द्वारा कृष्णावतार की अन्य अवतारों की तरह ही वैदिक परम्परा से सिद्ध किया जाता है। यद्यपि इस श्रुति में कृष्णावतार का स्पष्ट

वर्णन एवं कृष्ण शब्द का उल्लेख नहीं है, फिर भी इसका अभिप्राय उसी प्रकार है :—

जज्ञान एव व्यबाधत स्पृध:
प्रापश्यद् वीरो अभिपौंस्यं रणं।
अवृश्चदद्रिं अव सस्यद: सृजद
अस्तभ्नान्नाकं स्वपस्यया पृथुम्।

जज्ञान एव (पैदा होते ही), व्यबाधत (मारा), स्पृध: (शत्रुओं को), प्रापश्यद् (देखता रहा), वीरो (वीर होते हुए भी), अभिपौंस्यं (भयंकर), रणं (युद्ध)।

अवृश्चदद्रिं (पर्वत धारण किया); अब सस्यद: सृजद् (मेघों को विसर्जित किया।)

अस्तभ्नान्नाकं (आकाश को स्तम्भित किया), स्वपस्यया (अपनी शक्ति से) पृथुम् (महान) (पहले पद का भाव महाभारत युद्ध से है)।

द्वे विरूपे चरत: स्वर्थे ··अन्यान्यावत्समुपधापयेते।
हरिरन्यस्यां भवति स्वधावा—
ञ्छुको अन्यस्यां ददृशे सुवर्चा ।।
पूर्वापरं चरतो माययैतो—
शिशु क्रीडन्तौ परियातो अध्वरम् ।।
विश्वान्यन्यो भुवनानि चष्ट—
ऋतून्यन्यो विदधज्जायते पुन:।

"अलग-अलग कार्य में तत्पर, सुन्दर रूप वाले, दो (बालक) विचरण कर रहे हैं। वत्सों को दूध पिलवा रहे हैं। इनमें एक तेजस्वी शक्तिमान श्यामवर्ण और दूसरा गौर वर्ण दिखलायी देता है। ये दोनों घूमते हुए माया से, बालकों सी क्रीडा करते यज्ञस्थल (कंस के धनुर्यज्ञ) जा पहुँचे। इनमें से एक (कृष्ण) सम्पूर्ण लोकों की बात जानता है, और दूसरा समयानुसार उत्पन्न हुआ।"

विद्वानों ने इस प्रकार इस श्रुति को कृष्ण तथा बलराम के चरित्र की बोधक माना है। छान्दोग्यपनिषद् में, जो ३२०० वर्ष ई. पूर्व की रचना मानी जाती है, "देवकी पुत्र कृष्ण" स्पष्ट आया है ('गीता—रहस्य': तिलक)। यद्यपि कृष्णावतार द्वापर के अन्त का है, तथापि कल्प भेद से अन्य कल्पों के अवतार की चर्चा सम्भव ही है।

इसी प्रकार पुराणों में वर्णित देव और असुरों के युद्ध का वर्णन भी ब्राह्मण ग्रन्थों और यजुर्वेद में मिलता है।

वर्णाश्रम व्यवस्था, सृष्टि का विकास-क्रम के बारे में ऋग्वेद में (१०।१९०) और यजुर्वेद में उल्लेख मिलता है—

'ब्राह्मणोस्य मुखमासीद्वाहू राजन्य:'

+ + + +

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादत: ।
गावोह यज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावय: ।

+ + + +

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीष्णो:द्यौ: । इत्यादि

इन्ही विषयों पर नये रूप में पुराणों की कथायें है, पुराणों की परिभाषा में कहा गया है—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पंच लक्षणं ।।

अर्थात् सृष्टि, प्रलय, मानवों की वंश-परम्परा, मन्वन्तर अर्थात् काल-मान, और मानव वंशों के चरित्रों का वर्णन यह पांच विषय जिसमें हों, वह पुराण है। निश्चय ही यही पुराणों का साहित्य है, और इसका मूलाधार वेद हैं।

पौराणिक कथाओं की सहायता से वैदिक कथानक को ठीक से समझने में सहायता मिलती है। जो व्यक्ति इतिहास और पुराणों से भलीभांति परिचित नहीं होता, वह वेदों में वर्णित घटनाओं और तथ्यों को अच्छी तरह समझ नहीं पाता। इसी हेतु महाभारत में कहा गया है कि वेद भी इतिहास और पुराणों से अपरिचित पुरुषों के द्वारा विकृतांग होने से भयभीत होते रहते हैं—

इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ।।

इन आधारों पर वेद और पुराणों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है; और हम कह सकते हैं कि वेदों से पुराणों के तथा पुराणों से वेदों के कथानकों और तथ्यों को समझने में भी सुविधा होती है।

पुराणों का सृष्टि-वर्णन और युग-व्यवस्था

भूतल पर सृष्टि कब से है, ब्रह्माण्ड एवं हमारे पृथ्वी और सौर-मण्डल का अस्तित्व कब से है ? यह अत्यन्त ही विचारणीय विषय है, किन्तु पुराणेतर साहित्य में इसका कहीं सही वर्णन नहीं मिलता है। पौराणिक साहित्य के पाँच विषयों में से सर्ग' नामक विषय इसी विज्ञान का बोधक है। इसमें एक विशेषता यह है कि पुराणों के अन्य विषयों पर जहां काल्पनिक पुट के समावेश से वास्तविक सत्य अस्पष्ट है; वहां यह विषय कल्पना के आवरण से परे विशुद्ध विज्ञान सम्मत है। जिससे सृष्टि के विषय में पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। ऐसा सोचा जाता है कि यह विषय पुराणों में शुद्ध प्राचीन परम्परा से है अन्य विषयों में जहां परिवर्तन और परिवर्द्धन हुए, वहां यह विषय ज्यों का त्यों है।

पहला विषय तो यह है कि पृथ्वी पर मानव सृष्टि कब से है। पाश्चात्य धर्म ग्रंथों में—जैसे बाइबिल में यह उल्लेख है कि पृथ्वी पर मानव सृष्टि केवल ८,००० वर्षों से है, इसके बाद पाश्चात्य विद्वानों ने उछल कूद शुरू की, और लंदन की रायल सोसायटी के मंत्री डॉ॰ जे॰ एच॰ जीन्स जैसे विद्वानों ने वक्तव्य दिया कि पृथ्वी पर मानव तीन लाख वर्षों से है। वास्तव में इन लोगों की यह उछल-कूद उसी प्रकार थी—जिस प्रकार कूप-मण्डूक पृथ्वी की थाह के बारे में उछल कूद करें। नि: सन्देह आज के वैज्ञानिक युग में यह बातें कितनी उपहास जनक हैं, यह सर्व विदित है।

अपने धर्म ग्रंथों के पोषक कुछ पाश्चात्यों का भले ही जो मत हो किन्तु आज सर्व-सम्मति से भारतीय सृष्टि विज्ञान को स्वीकार किया जा रहा है। पाश्चात्यों के मत का प्रतिपादन करने से पहले पौराणिक मत का प्रतिपादन कर देना यहां उचित होगा।

पुराणों के मत से शकारि शालिवाहन सम्वत् से १, ९७, २९, ४७, १८० वर्ष पहले ब्राह्माण्ड में सौर मण्डल के सम्पूर्ण पिण्ड एक ही पिण्ड के रूप में थे इसी काल में पृथ्वी सौर-मण्डल के ग्रह-तारे परस्पर पृथक पिण्डों के रूप में विभक्त हुए, और हमारी पृथ्वी का भी जन्म

हुआ। इस काल को 'कल्पादि' कहा जाता है। ब्रह्माण्ड में पृथ्वी का जन्म होने के बाद कुछ वर्षों तक यह पिण्ड तरल अवस्था में रहा, और कालान्तर में बाहरी परत जमकर ठण्डी होती गई। इस मध्यवर्ती काल में कुछ प्रकृतियाँ सृष्टि में बाधक थीं और कुछ प्रकृतियाँ सृष्टि के लिए आधार तैयार कर रही थी। यहीं पर सृष्टि में बाधक और सृष्टि के सृजनकारी दो विरोधी प्राकृतिक तत्वों को ही क्रमश: दानव और देव की कल्पना कर देवासुर-संग्राम की व्याख्या की गई है।

पुराणों की चतुर्युग व्यवस्था में जो कल्पादि से सर्वप्रथम सत्ययुग हुआ— उसमें सृष्टि का कोई उल्लेख नहीं मिलता। उस समय यद्यपि पृथ्वी की परत जम गई थी, किन्तु सृष्टि में बाधक (आसुरी) शक्तियों के वशीभूत हो वह सृष्टि के अयोग्य थी। वह न तो आज की तरह अपनी कीली पर ही घूमती थी और न अपनी कक्षा पर ही। इसके माने यह थे कि पृथ्वी के आधे भाग में हमेशा दिन, एक ही ऋतु रहती थी और दूसरे भाग में हमेशा रात्रि। जिसके परिणाम-स्वरूप दिन वाले भाग में प्रचण्ड ताप और रात्रि वाले भाग में घनान्धकार और हिम होने से जीवन सम्भव न था। केवल दिन-रात्रि के सीमा क्षेत्र में कुछ जीवन सम्भव था। एतदर्थ ही इस युग में भगवान को कमठ अवतार लेकर देव और दानवों द्वारा संयुक्त रूप से समुद्र-मंथन का काल्पनिक या रहस्यमय कथा-नक है। यहाँ पर विष्णु* (जलतत्व) ने कमठ का रूप धारण कर पृथ्वी को अपने पीठ पर रक्खा, और सुमेरु पर्वत (पृथ्वी का उत्तरी ध्रुव) को मथनी बनाकर देव-दानवों ने समुद्र मंथन किया। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि समुद्र के ऊपर पृथ्वी को दो प्राकृतिक शक्तियों ने ध्रुव कीली को आधार मानकर परस्पर विरोधी दिशाओं को खींचा, जिसका परिणाम यह हुआ कि पृथ्वी अपनी कीली पर घूमने लगी। और इस मंथन से चौदह रत्नों की उत्पत्ति भी हुई—लक्ष्मी (लक्ष्मी केवल धन नहीं है, गौ, पशु, खनिज सम्पत्ति, रत्न, सब लक्ष्मी कहा गया है), कौस्तुभ (मणि), पारिजात (वृक्ष), सुरा (विष, मादकता), धन्वन्तरि (जीवनीय तत्व, आक्सीजन आदि), चन्द्रमा, गौ—कामधेनु, हाथी, अप्सरायें (रूपवती स्त्रियां), घोड़े, अमृत (प्राण, अमृतोपम औषधियां), हरिधनु, शंख, और विष। यह भी स्पष्ट है कि जो पृथ्वी कीली में घुमाव न होने से मानव, पशु, वनस्पतियों से शून्य थी, वह सृष्टि के योग्य होकर हरी-भरी एवं बहुरत्ना हो

* विष्णु, नारायण आदि जल के पर्यायवाची है।

गईं। पृथ्वी का कीली पर घुमाव होने से ही यहीं पर राहु केतु का जन्म हुआ। राहु-केतु का सम्बन्ध पृथ्वी के अक्ष से है, जिसे ज्योतिर्वेत्ता समझ सकते हैं। पृथ्वी की छाया, और पृथ्वी-कक्ष ही यह बिन्दु है।

यदि हम वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार करें तो प्रत्येक विषय स्पष्ट हो जाता है। आरम्भ के सत्ययुग में मानवी सृष्टि का पता नहीं चलता—हिरण्याक्ष हिरण्यकशिपु आदि दैत्यवंश का वर्णन मिलता है, सृष्टि के विकास में बाधक तत्वों को ही दानवों का रूप दिया गया है। मानवी सृष्टि का आरम्भ मनु से हुआ, मनु की संतान ही मानव कहलायी, मनु त्रेता के आरम्भ में हुए थे—उसी समय से मानवी सृष्टि का आरम्भ हुआ। इस तरह हमारी पृथ्वी पर सर्वप्रथम मानव सृष्टि का उल्लेख शालिवाहनशाके से १, ९५, ५८, ८३, १८० वर्ष पहले कहा गया है।

यह उल्लेखनीय है कि पुराणों ने पृथ्वी का अस्तित्व लगभग दो अरब वर्ष माना है, उसकी पुष्टि आज के विज्ञान से हो चुकी है। कुछ वर्ष पूर्व अमरीका में स्थित भारतीय वैज्ञानिक श्री चन्द्रशेखर ने गणितीय तर्कों के आधार पर सृष्टिकाल को दो अरब वर्ष सिद्ध कर दिया है। रायल सोसायटी लंदन द्वारा यह तथ्य स्वीकार कर उन्हें सदस्यता एवं पदक से सम्मानित किया जा चुका है। सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान डॉ॰मोल्टन ने भी सन् १९२७ में पृथ्वी की आयु दो अरब वर्ष कही थी। पुरातत्व एवं भूगर्भशास्त्र भी इसी मत का समर्थन करते हैं। कुछ वर्षों पूर्व भूगर्भशास्त्रियों को एक नर कंकाल मिला था जिसे वैज्ञानिक एक करोड़ वर्ष पुराना मानते हैं। साथ ही उसके काल से यह भी सिद्ध होता है कि तब का मानव आज के मानव से लम्बा, चौड़ा और पुष्ट होता था। मानव के देहाकार में निरन्तर सुधार नहीं, अपितु क्रमशः ह्रास हो रहा है। इस कंकाल से कम से कम आज से एक करोड़ वर्ष पहले आज के मानव से अच्छे मानव का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है और हमें आशा करनी चाहिए कि इससे भी पुराने अवशेष प्राप्त होंगे। केवल ३ लाख, या आठ हजार वर्षों से मानव का अस्तित्व मानने वाले पाश्चात्य विद्वानों पर यह एक कड़ा तमाचा है।

यहाँ पर हमारे कुछ पुराण पंथी भी ऐसी मिथ्या कल्पना कर लेते हैं कि लगभग दो अरब वर्ष पूर्व जो मानव वंश चला वही अद्यावधि विद्यमान है। वास्तव में तब से अब तक ६ बार मानव सृष्टि का नाश हो चुका है, और ७ बार नई मानव सृष्टि हो चुकी है। आज जो मानव-वंश विद्यमान है, वह सातवीं सृष्टि है।

उनकी कल्पना है कि पुराणों में वर्णित महाप्रलय (चार अरब, बत्तीस लाख वर्ष बाद-सृष्टि से) ही प्रलय है— इसी में मानव वंश नष्ट हो जाता है। किन्तु वास्तविक सत्य यह है कि इस महा-प्रलय में मानव वंश ही नहीं, पृथ्वी का भी प्रलय है, जिसमें पृथ्वी का अस्तित्व भी संदिग्ध है। पुराणों का कथानक अगस्त्य द्वारा समुद्र-शोषण और विन्ध्यांचल की वृद्धि इसके प्रमाण हैं। यह उस समय का इतिहास है, जब पृथ्वी हमारे सूर्य के निकट नहीं, अपितु दक्षिण में प्रकाशित अगस्त्य के पास थी (इसे आधुनिक वैज्ञानिक मानते हैं कि सूर्य बदलते रहते हैं युगों के बाद) सूर्य की अपेक्षा अगस्त्य में हजारों गुणा ताप है— यह भी विज्ञान सम्मत है। तब उनके ताप से समुद्र सूख गये, गर्मी से द्रवित होकर विन्ध्यांचल पर्वत भी बढ़ने लगा। बाद में दैव प्राकृतिक शक्तियों के आकर्षण से अगस्त्य पृथ्वी से दूर दक्षिण में चला गया। इत्यादि। इस महाप्रलय में पृथ्वी के साथ ही सौरमण्डल एवं ब्रह्माण्ड में भी भारी परिवर्तन होंगे।

साधारणत: प्रलय जिसे जल प्रलय कहा जा सकता है, प्रत्येक ७१ चतुर्युगी के बाद होता है, और १७, २८,००० वर्ष रहता है। सत्य के अन्त एवं त्रेता के आरम्भ में पुन: नयी सृष्टि का उदय होता है। पुराणों में कहीं भी सत्ययुग में सृष्टि का वर्णन नहीं मिलता। अपवाद स्वरूप लोमश, मार्कण्डेय आदि जिन ऋषियों का उल्लेख मिलता है; जिन्होंने दैव कृपा से दीर्घायु प्राप्त कर प्रलय देखा था, अथवा प्रलय में भी विद्यमान रहे—यह ईश्वर के प्रति आस्था हेतु काल्पनिक वर्णन है।

पुराणों के अनुसार एक कल्प (महाप्रलय) में १४ मनु होते हैं, अर्थात् पृथ्वी पर चौदह बार जलप्रलय होकर १४ बार मानवसृष्टि होती है। एक मनु का अस्तित्व (एक मानव वंश का अस्तित्व ३०,६७,२०,०००) वर्षों का है। इस प्रकार पृथ्वी के अस्तित्व से अब तक ६ मानव सृष्टियाँ नाश हो चुकी हैं और सातवीं मानव सृष्टि चल रही है। प्रत्येक काल में मानव-वंश की उत्पत्ति का क्रम और उनकी वंशावली भी भिन्न-भिन्न है। एक युग में मनु के पुत्र प्रियव्रत और इक्ष्वाकु थे, आगामी आठवीं सृष्टि में सावर्णि मनु होंगे उनके पुत्र का नाम विरजा होगा। एक युग के मनु के पुत्र उत्तानपाद थे—'मनु' का तात्पर्य है—पृथ्वी पर मानवी सृष्टि के जन्मदाता सर्वप्रथम मानव। एक मन्वन्तर में सूर्य, चन्द्रवंश चले, स्वारोचिष नामक मन्वन्तर में चैत्रवंश चला। इस समय वैवस्वत नामक मनु का वंश विद्यमान है, और

मानववंश की इस सृष्टि को शाके १८८३ को आधार वर्ष मानकर चलने पर १२० ५३३०६२ वर्ष हो चुके हैं। यद्यपि इतने वर्षों के अन्दर भी पृथ्वी में भौगोलिक हलचलें हुई हैं, कुछ भागों में हिमप्रलय और जलप्रलय होना वैज्ञानिक मानते हैं, किन्तु पुराणों के मत से वह प्रलय नहीं—खण्डप्रलय ही कहा जायगा। क्योंकि इनमें न तो मानव वंश नष्ट हुआ, और न यह सम्पूर्ण पृथ्वी पर हुआ। प्रलय का अर्थ है—मानव वंश का नाश। तदनुसार :—

ब्रह्माण्ड में सृजनात्मक हलचलें—१,९७,२९,४८,०६२ वर्ष पूर्व
पृथ्वी पर सर्वप्रथम सृष्टि—१,९५,५८,८५,०६२ ,,
पृथ्वी पर वर्तमान मानव सृष्टि—१२,५३३०६२ ,,
पृथ्वी पर अंतिम खण्ड प्रलय—१६५०६१ ,,
पृथ्वी पर आगामी खण्ड प्रलय—४२६९६८ वर्ष बाद
पृथ्वी पर आगामी प्रलय—१८६१८६९३८ ,,

महाप्रलय (सारे ब्रह्मांड में विनाशकारी हलचलें—२३४७५५०९३८ वर्ष बाद)।

४,३२,००० वर्ष = कलियुग
८,६४,००० वर्ष = द्वापर युग
१२,९६,००० वर्ष = त्रेतायुग
१७ २८,००० वर्ष = सत्ययुग
४३,२०,००० वर्ष = एक चतुर्युगी

७१ चतुर्युग = एक मन्वन्तर (खण्ड प्रलय + संधि १७२८००० वर्ष)
= ३०८४४८००० वर्ष।

१४ मवन्तर = एक ब्रह्मदिन
(= ४,३२,००,००,००० वर्ष)

८,६४,००,००,००० वर्ष = ब्रह्मा का एक अहोरात्र
(= एक सृष्टिचक्र)

अर्थात् आठ अरब, चौसठ करोड़ वर्ष की एक सृष्टि।

यह तो पृथ्वी के जीवधारियों का एक सृष्टि चक्र है। इसके आगे की भी गणना है—

ब्रह्मा के ३६० अहोरात्र = ब्रह्मा का एक वर्ष।

ब्रह्मा के १०० वर्ष = ब्रह्माण्ड का महाप्रलय।

कालगणना की सबसे सूक्ष्म इकाई को "त्रुटि" कहा गया है, लेकिन महर्षि नारद की गणना इससे भी सूक्ष्म है। नारद संहिता (नारद पुराण) के अनुसार "लग्नकाल" त्रुटि का हजारवां भाग है—

लग्नकाल = ०.३२,४०,०१,००.००० सेकिण्ड
(अर्थात् सेकिण्ड का बत्तीस अरबवां भाग)

इसकी सूक्ष्मता के सम्बन्ध में उनका कथन है कि यह इतना सूक्ष्म समय है —स्वयं ब्रह्मा भी इसे नहीं जानते फिर साधारण मनुष्य की बात ही क्या है ?

"त्रुटेः सहस्रभागोयो लग्नकालः स उच्यते ।
ब्रह्माऽपि तं न जानाति किं पुनः प्राकृतोजनः ।।"*

आधुनिक वैज्ञानिक परमाणुचालित घड़ियों से सेकिण्ड के हजारवें भाग तक की गणना करने की क्षमता रखते हैं लेकिन भारतीय कालगणना की सूक्ष्मता तो इससे भी अत्यन्त सूक्ष्म है।

एक चतुर्युग—४३२०००० वर्ष
× ७१
= ३०६७२०००० वर्ष
संधिकाल (+) १७२८००० वर्ष
१४ मन्वन्तर = एक महासृष्टि

एक मन्वन्तर के अर्थ हैं—जितने समय में सौरमण्डल के सभी ग्रह एक सूत्र में आ जाते हैं, अतः वास्तविक गणना में कुछ वर्षों का अन्तर पड़ता है अतः प्रत्येक मन्वन्तर के प्रारम्भ में १७,२८००० वर्षों का क्षेपक जोड़ा जाता है।

कुछ विचारकों की दिग्भ्रान्ति

आधुनिक युग के विद्वान् जो मूलरूप में पाश्चात्य संस्कृति के अन्ध-भक्त हैं, कदाचित शोध के नाम पर अर्थ का अनर्थ कर डालते हैं क्योंकि उनका उद्देश्य यह है कि पाश्चात्य विद्वान जो कुछ कह रहे हैं, उनकी हां में हां मिलाकर संस्कृत साहित्य को तोड़-मरोड़ कर इस तरह बाल की खाल निकाली जाय, जिससे वे पाश्चात्य और अपने मत में एकरूपता ला सकें तथा इस अनर्थकारी

* "बृहद्दैवज्ञरंजन" में संग्रहीत (कालमानाध्याय)।

कार्य के उपलक्ष में उन्हें शोधकर्ता की उपाधि मिल जाय। मैं इस बात का समर्थक कदापि नहीं हूँ कि पुराणों की रूढ़िवादिता को सत्य मान लिया जाय और उसे किसी प्रकार उसी रूप में सिद्ध करने के प्रयत्न किये जायें— क्योंकि ऐसा करना स्वयं अपने आप को और सारे विश्व को धोखा देना है, किन्तु पाश्चात्यों का आँखें मूंदकर अन्धानुकरण भी उचित नहीं है। इतिहास के स्पष्ट तथा निश्चिन्त्य आधुनिक विज्ञान सम्मत मत लेना ही अभीष्ट होना चाहिए और शोध के अवसर पर हमारा दृष्टिकोण यह होना चाहिए कि सँस्कृत-साहित्य जो कहता है—क्या वह विज्ञान सम्मत हो सकता है? अपने अन्दर से इस भावना का त्याग करना होगा कि पश्चिमी लोग जो कह रहे हैं—उनके समर्थन से हम पुराणों का प्रतिपादन कैसे करें। क्योंकि पश्चिमी लोग जो कुछ कह दें वही यथार्थ सत्य होगा, यह कैसे कहा जा सकता है। किन्तु खेद का विषय है कि भारत में इस दृष्टिकोण से अध्ययनकर्ता बहुत कम हैं। इस सम्बन्ध में कुछ भ्रान्तियाँ यह हैं—

(१) कुछ लोगों ने युग व्यवस्था के दैव वर्षों को ही मानव वर्ष माना है, तदनुसार—

सत्ययुग—४८०० वर्ष
त्रेता—३६०० ,,
द्वापर—२४०० ,,
कलि—१२०० ,,

चारों का योग १२००० वर्षों का एक महायुग। क्योंकि पृथ्वी के मानव वर्षों से देवताओं का वर्ष ३६० गुणा होता है, अतः दैव-वर्षों का मानव वर्षों में यही अनुपात होगा। पुराणोक्त मानववर्ष यह हैं—

सत्य—१७२८००० वर्ष,
त्रेता—१२९६००० वर्ष,
द्वापर—८६४००० वर्ष,
कलि—४३२००० वर्ष,
———————————
महायुग ४३२०००० वर्ष

उक्त विचारकों ने १२००० वर्षों का ही (मानव वर्षों) महायुग इस प्रकार प्रतिपादन किया है कि महाभारत, भागवत, विष्णुपुराण, मनुस्मृति में युग व्यवस्था इतने ही वर्षों की है। इनमें से कुछ में यह उल्लेख नहीं किया

गया है कि यह दैववर्ष से गणना है—या मानव वर्षों से ? एतदर्थ लोगों को मनमाना अर्थ लगाने का अवसर मिल गया है। पुराकाल में लिखने के साधन इतने सुलभ न होने से लेखकों ने इस विषय को संक्षेप से संक्षेप में लिखने का प्रयत्न किया है। एतदर्थ उन्होंने केवल दैववर्षों का ही मान दिया है। दैववर्षों को ३६० से गुणित करने पर मानववर्ष आसानी से ज्ञात किये जा सकते हैं। जब तक कहीं यह उल्लेख न मिल जाय कि मानववर्ष ही हैं—तब तक इन दैववर्षों को मानववर्ष कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता। वह भी इस अवस्था में जब कि हमें अन्य पुराणों में इसके विपरीत दैववर्षों तथा मानववर्षों में पृथक युगव्यवस्था मिलती है। स्वयं 'मनुस्मृति' में युगव्यवस्था दैववर्षों में देकर पुन: स्पष्ट कह दिया है कि 'यह बारह हजार वर्षों का दैवयुग है, मानव युग नहीं'—

'एतद्द्वादश साहस्त्रं देवानां युगमुच्यते—१-७१'

इन तार्किकों के इस युक्तिहीन एवं असंगत मत से मानव सृष्टि को ३ लाख वर्ष पुरानी मानने वाले पाश्चात्यों के मत का समर्थन हो जाता है, क्योंकि आदि सत्ययुग के अन्त में सृष्टि मानकर यह वर्तमान अठाईसवां महायुग चला है। एक महायुग १२००० × २७ = ३२४००० में लगभग यही समय हो जाता है। किन्तु यह एक भ्रम-मात्र है। आज जब एक करोड़ वर्ष से भी पुराने मानव-अवशेष प्राप्त हो रहे हैं, और पाश्चात्य लोग भी स्वयं अपनी अशुद्धि स्वीकार कर सृष्टि की प्राचीनता स्वीकार कर रहे हैं—हमारे देश के परांमुखी शोधक क्या करेंगे ? क्योंकि पश्चिमी लोग स्वयं अपने पुराने मतों को अशुद्ध मानने लगे हैं अत: इन लोगों का मत न तो पश्चिम का ही समर्थक रहा और न भारतीय परम्परा का सूचक 'धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का' इस अवस्था में इन्हें अब नई कल्पना करनी होगी।

(२) एक और भी मत है, उनका कथन है कि पांच या ४ वर्षों का ही एक महायुग होता है—अर्थात् एक वर्ष का एक युग। इसके सम्बन्ध में बौधायन सूत्र, गर्गसूत्र वेदांग ज्योतिष के उद्धरण दिये जाते हैं। किन्तु यह भी एक भ्रम ही है, यहां जो पंचवर्षीय युगव्यवस्था है—उनका अर्थ सत्ययुग आदि से कदापि नहीं है। युग कई प्रकार के होते हैं, यह युग व्यवस्था ज्योतिष-विषयक प्रकृतिजन्य वर्षा आदि धार्मिक दृष्टि से है। इन युगों के नाम न तो सत्य, त्रेता

आदि हैं, और न इनकी संख्या ही चार है । यह* नारायण, इन्द्र आदि नाम से आते हैं, और इन युगों की संख्या १२ है । वृहस्पति नामक ग्रह के सम्पूर्ण राशिचक्र (३६० अंश) में एक पूर्ण भ्रमण में १२ युग (१२ वर्ष) और ५ परिभ्रमण में —१२ × ५ = ६० वर्ष लगते हैं । इन्हीं ६० वर्षों में ५.५ वर्ष के प्रत्येक युग के प्रमाण से १२ महायुग व्यतीत होते हैं । प्रत्येक युग ५ वर्षों का होता है, उन पांच वर्षों को क्रमशः सम्वत्सर, परिवत्सर, इडावत्सर, अनुवत्सर और उद्वत्सर कहा गया है—

> सम्वत्सरोऽग्निः परिवत्सरोऽर्कः,
> इडादिकः शीत मयूखशाली ।
> प्रजापतिश्चाप्यनुवत्सरश्च,
> उद्वत्सर· शैलसुतापतिश्च ॥

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस मत के प्रतिपादक स्वयं कितने अंधकार में हैं । और ज्योतिष शास्त्र से अनभिज्ञ समाज को वेदांग ज्योतिष के नाम पर कितने अँधकार में डालने का प्रयास है ।

चार वर्षीय युग का प्रतिपादन भी इन लोगों ने इसी प्रकार किया है, इनका कहना है कि पाँच वर्षों का पूर्वोक्त युग चान्द्रमास से है । पाँच वर्षों में सौरमास तथा चान्द्रमास में अधिमासों के कारण दो माह का अन्तर आ जाता है एतदर्थ वास्तव में एक एक वर्ष का एक वत्सर होकर ४ वर्षों का एक महायुग होता है । यहां पर हम तो मूर्खता की पराकाष्ठा ही कहेंगे—प्रत्येक जानकार व्यक्ति जानता है कि सौरवर्ष और चन्द्रवर्ष में प्रतिवर्ष ११ दिन का ही अन्तर होता है । (सौरवर्ष ३६५ दिन चान्द्रवर्ष ३५४ दिन का) अतः ४ सौरवर्ष में ११ × ४ = ४४, केवल ४४ दिन का ही अन्तर होगा— और ४ वर्षों में एक ही अधिमास होगा —अतः चार सौर वर्षों में, ४ वर्ष, १-१/२ मास चान्द्र मास से होगा, पता नहीं ४ सौर वर्षों में ५ चान्द्रवर्ष कैसे हो जायेंगे ।

इनके मत से —

४ वर्ष = १ महायुग ।

---

*—नारायण, इन्द्रयुग, वृहस्पतियुग, अग्नि०, त्वष्टा०, अहिर्बुध्न्य०, पितृ०, विश्व०, सोम०, इन्द्राग्नि०, अश्वि० और भग युग यह बारह युग हैं ।

७१ महायुग = ४ × ७१ = २८४ वर्ष (एक मन्वन्तर या प्रलय)। इस सम्बन्ध में कुछ उद्धरण भी प्रस्तुत किये हैं—

चतुर्युगाणि राजात्र त्रयोदश च राक्षसा:
(वा० पु० ७०/४५)

'दीर्घतमा मामतेयो जुजुर्वान् दशमे युगे'
(ऋग्वेद १-१५८.६)

किन्तु यहां पर चतुर्युगाणि का अर्थ ४ वर्ष कदापि नहीं सिद्ध होता— यहां तो युगों की संख्या बतलाई है कि युगों की संख्या ४ है (सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि) अत: इस मनमाने अर्थ से व्याकरण एवं संस्कृत की अनभिज्ञता प्रकट होती है। जहां तक ऋग्वेद का सूत्र है—जिसमें दीर्घतमा ऋषि के दसवें युग में वृद्ध होना कहा है यह कल्पना एवं रहस्यमय वर्णन है। यहां पर यह कहने की आवश्यकता नहीं कि पुराणों की तरह वेदों में भी रहस्यमय भावमय काल्पनिक कथायें हैं। इन्द्र वृत्रासुर युद्धको ही लीजिए—जब कि इन्द्र वर्षा के प्रतिपादक और वृत्र वर्षा के प्रतिबन्धक तत्व मात्र है। और भी अनेकों उदाहरण हैं। इसके अलावा यह भी हो सकता है कि दीर्घतमा ऋषि ज्योतिषोक्त नारायण आदि के ही दसवें युग में वृद्ध हुए हों. क्योंकि यह स्पष्ट तो नहीं है कि वह दसवां युग नारायण आदि था, या कृ०, त्रेता आदि—तब उसे सत्य आदि युग कैसे कहा जा सकता है?। १० × ५ = ५० वर्ष में वृद्धावस्था का प्रवेश ठीक ही है।

कदाचित इस मत के प्रतिपादकों ने इसके दूसरे पक्ष पर भी विचार नहीं किया, क्योंकि इसके अनुसार प्रत्येक २८४ वर्षों में ही पृथ्वी पर पूर्ण प्रलय सिद्ध होता है, और ४०३२ वर्षों का एक कल्प अर्थात सारे ब्रह्माण्ड में प्रलय—कैसे हास्यकर मत हैं।

एक एक वर्ष का एक युग मानने के सम्बन्ध में और भी कुछ तर्क प्रस्तुत किये गये हैं – महाभारत वन पर्व में लोमश ऋषि ने युधिष्ठिर से कहा था— 'यह त्रेता तथा द्वापर की संधि है' संधि रेष नर—श्रेष्ठ त्रेताया द्वापरस्य च।' और आगे चलकर 'एतत्कलियुगं नाम अचिराद्यत्प्रवर्तते (यह कलियुग शीघ्र प्रवेश हो रहा है)' कहा है। यह दोनों घटनायें बनवास की हैं, केवल १२ वर्ष की अवधि में त्रेता, द्वापर तथा कलि कैसे आया? दूसरा यह कि कलियुग का आरम्भ श्रीकृष्ण के स्वर्गारोहण (महाभारत से ३६ वर्ष बाद) हुआ था, किन्तु शल्यपर्व में महाभारत के युद्ध समय बलराम जी ने श्रीकृष्ण जी से कहा था

'प्राप्तं कलियुगं विद्धि— कलियुग आ गया है समझिये' इत्यादि। इन आधारों पर वे अपने एक एक वर्ष के युग को सिद्ध करते हैं, जिससे महाभारत काल में ही ३ बार कलियुग आ गया। वास्तव में कलियुग ३ बार कदापि नहीं आया। वन पर्व में लोमश द्वारा त्रेता और द्वापर की संधि का उल्लेख दूसरे अर्थ में आया है, युग के कई अर्थ होते हैं—

कलिःशयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठं त्रेता भवति .... ॥

(ऐतरेय ब्रा०)

यहाँ पर लोमश ऋषि ने संसार की कर्तव्यहीनता को इंगित किया है, त्रेता का अर्थ कर्तव्य के प्रति जागरूकता है किन्तु अब लोग कर्तव्य से जमुंहाई लेने लगे हैं, जो द्वापर का वाचक है। जिस कथानक पर यह चर्चा आई है— उसका भी युग-व्यवस्था से कोई तात्पर्य नहीं है। जैसे कि लोकव्यवहार में अब भी कहा जाता है 'यह तो झूठ का युग है' इत्यादि। और आगे चलकर 'कलियुग शीघ्र आ रहा है, कलियुग आ गया है ऐसा समझिये' इससे यह सिद्ध नहीं होता कि कलियुग चल रहा है। महाभारत जैसे लक्षण, लोगों की मनोवृत्ति देखकर लोक व्यवहार के अनुसार कहा गया है कि—कलियुग आ ही गया ऐसा प्रतीत होता है। लोक-व्यवहार में दिन के ढलते ही हम कहते हैं 'अब तो सायं हो गई' और दिशाओ के खुलते ही कहते हैं 'प्रातःकाल हो गया' और सूर्योदय के कितने बाद तक के समय को प्रातःकाल ही कहते हैं। जब कि सूर्यास्त के बाद सायंकाल की परिभाषा—सूर्यास्त होने के बाद तारे दिखने तक, और प्रातःकाल की परिभाषा—सूर्योदय से ४८ मि० पहले से ठीक सूर्योदय तक, शास्त्रों में है। किन्तु लोक-व्यवहार में यह कहाँ देखा जाता है। 'कलियुग चल रहा है' ऐसा कोई उल्लेख नहीं है। इसके अलावा जबकि महाभारत के ही अन्य स्थल पर युगमान पुराणोक्त ही माने हैं, तब उसी में ४ वर्षों का महायुग कैसे हो जायगा?

प्रायः इन भ्रान्तियों का जन्म दो कारणों से हुआ है—

(१) पाश्चात्यों के मत का समर्थन कर शोधक बनने की कुप्रवृत्ति।

(२) पुराणों के वे कथानक जहाँ 'दशरथ ने साठ हजार वर्षों तक राज्य चलाया' 'राम ने ग्यारह हजार वर्ष राज्य किया' 'विश्वामित्र ने दस हजार वर्ष तप किया' आदि को सिद्ध करने के हेतु।

जहाँ तक पहली प्रवृत्ति है अपने स्वार्थ एवं झूठे यश की लालसा में अर्थ का अनर्थ कर स्वयं एवं वाह्य जगत को अन्धकार में ढकेलना—निन्दनीय प्रवृत्ति है। और दूसरी प्रवृत्ति भी रूढ़िवाद पर आधारित है। वे लोग बाल की खाल निकालकर इन असम्भव एवं काल्पनिक रूप में वर्णित कथानकों को तर्क एवं विज्ञान से यथार्थ सिद्ध करना चाहते हैं—ऐसी रूढ़िवादिता भी भयंकर भूल एवं मूर्खता ही है। वास्तव में पुराणों के कथानक जिस उद्देश्य से लिखे गये हैं, उनमें इतिहास या वास्तविकता से कोई प्रयोजन नहीं है।
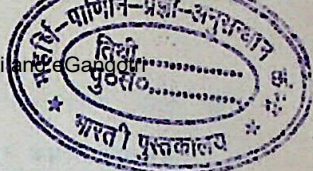
सृष्टि का विकास-क्रम

पृथ्वी पर सृष्टि कैसे हुई भारतीय वाङ्मय में इसका विज्ञान-सम्मत सुन्दर निरूपण है। आरम्भ में पृथ्वी, प्रकाश रहित, अनजान, अन्धकारमय लक्षणहीन अवस्था में थी—

'आसीदिदं तमो भूतं अप्रज्ञातमलक्षण'

यह उस अवस्था का वर्णन है जब सारे ब्रह्माण्ड में महाप्रलय के उपरान्त अँधकार था। सूर्यादि प्रकाशपुन्ज भी सुप्तावस्था में प्रकाश रहित थे, उस समय ब्रह्मा निद्रा से जागे, और उन्हें सृष्टि करने की प्रेरणा हुई। यहाँ पर पहले यह जान लेना आवश्यक होगा कि पुराणों ने जिसे ब्रह्मा के रूप में सृजनकारी देवता माना है—वह कौन सा तत्व है ? उल्लेखनीय है कि सृष्टि से सम्बन्धित त्रिदेव प्रसिद्ध हैं—

(१) ब्रह्मा—सृजनकारी हैं। ब्रह्मा का तात्पर्य यहाँ ताप से है, क्योंकि ताप से ही सृजन का आधार बनता है।

(२) विष्णु—सृष्टि के पालक। यह जल तत्व के बोधक हैं। इनका दूसरा नाम नारायण है, 'नारा' जल का नाम है—'आपो नारा इति प्रोक्ता' जल में पोषक तत्व विद्यमान हैं।

(३) रूद्र—संहारक हैं। इन्हीं का दूसरा नाम मृत्युंजय भी है मृत्यु से रक्षक भी और मारक भी हैं। यह वायु तत्व के बोधक हैं। पुराणकारों ने वायु को ११ रूपों में वर्गीकरण किया है, रुद्र भी ११ हैं। ११ वायुओं में एक प्राण वायु भी हैं।

हाँ, तो ब्रह्मा जी निद्रा से उठे—स्पष्ट है कि सारे ब्रह्माण्ड के पिण्ड जो महाप्रलय से सुप्त थे, जागृत हुए, उनमें आंतरिक ताप प्रज्वलित होने लगा, प्रकाश की किरण फूटने लगी—

त द ण्ड म भ द्धै मं सर्गमंतस्तमोवृतं ।
तत्राग्निरुद्ध प्रथमं व्यक्तिभूत: सनातन: ।।

अर्थात वह हेम के समान वर्णवाला ताप जो चारों ओर अँधकार के बीच सुप्त था उस अँधकार को भेदकर प्रकट हो गया। और तब—

मनस: खं ततो वायु अग्नि आपोधरा कमात् ।।*

---

* सूर्य सिद्धांत

उस सृजनात्मक ताप से कुछ स्थान रिक्त हुआ, वह आकाश कहलाया। एकाकार पिण्ड अनेकों में विभक्त होने से भी स्थान रिक्त हुआ, आकाश बनने पर पिण्डों में गति आई, जिससे वायु का प्रादुर्भाव हुआ; और उससे फिर जल और धरा की उत्पत्ति हुई। इसके अनन्तर ताप के द्वारा पृथ्वी पर जीवन सम्भव हुआ, ताप से पृथ्वी पर जीवोत्पादन हुआ, कीड़े, मकोड़े, मच्छर आदि कीट एवं कीटाणु जिस प्रकार धरा पर स्वयं ताप से उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार आदि-मानव वंश की उत्पत्ति भी ताप से या अन्य प्रकार से स्वत: हुई, मैथुनी-सृष्टि बाद में चली। पुराणों के अनुसार ब्रह्मा से तीसरी चौथी पीढ़ी में मानव वंश की सृष्टि हो गई थी। प्रारम्भिक पीढ़ियाँ ब्रह्मा ने मानसिक रूप से (ताप से स्वत: जन्म:) उत्पन्न की। जिससे कहा जा सकता है ताप से कुछ तत्व बने, और उनसे कुछ और तत्व अन्तत: इन तत्वों से स्वत: मानवी सृष्टि हुई। मरीचि, कश्यप आदि ब्रह्मा के जिन मानस-पुत्रों का वर्णन आया है, वे भी मानव नहीं, किसी तत्व के ही स्वरूप हैं, क्योंकि कश्यप से सूर्य, अत्रि से चन्द्र की उत्पत्ति हुई और इनकी उत्पत्ति भी मनु से पहले हुई है. अत: स्पष्ट है कि ये मानव-ऋषि नहीं, बल्कि तत्व विशेष या ब्रह्माण्ड के पिण्ड विशेष के वाचक हैं।

यद्यपि डार्विन के सृष्टि-विज्ञान से कुछ मिलता है किन्तु डार्विन के सिद्धांत से इसमें काफी मतभेद है। पहला तो यह कि डार्विन पृथ्वी पर के समस्त जीवों का जन्म एक ही मूलरूप में मानते हैं, और कालान्तर में सभी जीवधारियों का उसी मूलरूप में विकास मानते हैं। इसी आधार पर सम्पूर्ण जीवों की उत्पत्ति अमीवा से कल्पित की जाती है; और मानव को उसी में काफी परिवर्तनों के बाद शाखामृगों (बन्दरों) का वंश माना है। किन्तु पुराणकार सभी जीवों का मूलरूप एक नहीं मानते। ब्रह्मा के तीसरी पीढ़ी में ही पृथ्वी पर सभी प्राणियों की ४ वंशों में अपने-अपने रूप में सृष्टि हुई (एक युग में ब्रह्मा की तीसरी पीढ़ी में कश्यप से सम्पूर्ण सृष्टि मानी है)। सभी जीवों का वंश अलग-अलग है। सभी जीवों की उत्पत्ति लगभग एक ही समय में हुई है। मानववंश की अपेक्षा सर्पादि की सृष्टि कुछ पहले की है. मानव-वंश इसके बाद का है। और किसी जीवधारी के देह में परिवर्तन होकर नयी जाति नहीं बनी है। जिन चार वंशों में आदि सृष्टि हुई, वह इस प्रकार है—

(१) उद्भिज—पृथ्वी पर उत्पन्न, वृक्ष, वनस्पति।

(२) स्वेदज -- ताप से पृथ्वी पर स्वत: उत्पन्न मच्छर, कीड़े, जूं, खटमल आदि।

(३) अंडज---पहले अंडे के रूप में जन्म लेने वाले पक्षी आदि।

(४) जरायुज—उसी रूप में उत्पन्न होने वाले मनुष्य, पशु आदि।

इससे पुराणों का मत स्पष्ट है कि उन समय में तात्विक संयोगों से आदि मानव की सृष्टि हुई, उसका पृथक् अस्तित्व मूलरूप से विद्यमान है, आदि-सृष्टि चार श्रेणियों में विभक्त है, किन्तु उनके चौरासी लाख रूपमूल से ही पृथक् हैं। मानव बन्दरों की सन्तति नहीं है। सभी युगों में सृष्टि समान रूप से भी नहीं हुई; युग-भेद से सृष्टि के विकास-क्रम में भी कुछ भेद है। विभिन्न चौरासी लाख योनियों में जीवों की सृष्टि कैसे हुई पद्म-पुराण सृष्टि खण्ड में इसका अच्छा वर्णन है।

कुछ समय पहले डार्विन का सिद्धांत आदरणीय माना जाता था, किन्तु अब वैज्ञानिक उसकी मिथ्या कल्पनाओं से अवगत हो गये हैं और जिन विद्वानों ने पौराणिक सृष्टि-विज्ञान का गहरा अध्ययन कर उसके वास्तविक तत्व को समझा है—वह उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। यद्यपि पुराण भारतीय साहित्य की अमूल्य निधि हैं, किन्तु भारत के परांमुखी तथा-कथित विद्वानों को अपने साहित्य के प्रति अध्ययन करने में शायद लज्जा आती है—और डार्विन के सिद्धांत को प्रशंसा एवं अनुकरण ही उनके लिये कर्त्तव्य बन गया है। काश! यदि वे इस क्षेत्र में कुछ कार्य करते तो विश्व के मूर्धन्य आविष्कारकों में स्थान पाते। हमें अपने उस वैज्ञानिक पर गर्व है, जिसने भारतीय सिद्धांतों को प्रयोगशाला में सिद्ध कर वृक्षों मे चेतना सम्बन्धी आविष्कार से विश्व में सुयश अर्जित किया है और भारत का मस्तक भी ऊँचा उठाया है। वास्तव में वृक्षों में प्राण है, जीवन है, उन्हें सुख-दु:ख अनुभव होता है, वे भोजन करते हैं—इन सिद्धांतों का प्रतिपादन हजारों-लाखों वर्ष पहले वैदिक साहित्य 'ऐतरेय ब्राह्मण'' तथा पुराणों आदि में भी हुआ है। 'मनुस्मृति' में स्पष्ट है—

अन्त:संज्ञाभवन्त्येते सुखदु:ख समन्विता:

(१/४९)

डार्विन सिद्धांत नि:सन्देह केवल एक भ्रम मात्र है। उस पर यों भी विश्वास नहीं किया जा सकता कि इसने स्वल्प समय में कैसे एक अमीवा के चौरासी लाख रूप बने। एक ही अमीवा से उसे चौरासि लाख रूपों में

परिवर्तित होना असम्भव है। एक दूसरे शब्दों में पृथ्वी पर जब से मानव ने होश सभाला है, इतने वर्षों में न तो मानव से विकसित होकर नया रूप बना, न किसी बन्दर से पुन: मानवरूप में परिवर्तन हुआ और न अन्य जीवों से भी परिवर्तन होकर कोई नयी आकृति देखने में आई। इसका क्या कारण है कि अमीबां से मानव तक बनने में चौरासिलाख योनियाँ बनीं, किन्तु मानव के बनते ही इस विकासवाद की गति एकदम कैसे रुक गई।

इन्हीं आधारों पर अनेक विचारवादी पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय सृष्टि-विज्ञान का समर्थन किया है। सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् सर वाल्टर रेले ने 'विश्व का इतिहास' नामक अपने ग्रंथ में लिखा है कि सृष्टि-विद्या का ज्ञान नि:सन्देह भारतीय साहित्य ही में है। और भारतीय सृष्टि-विद्या से ही प्रभावित होकर इंगलैण्ड के प्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्री एच० जी० वेल्स ने अपनी पुस्तक 'इतिहास की रूपरेखा' में भारतीय शैली को ही अपनाया है। अस्तु।

इसी प्रकार सृष्टि का उद्गम और नाश होता रहता है, सम्पूर्ण जीवों का जन्म और मरण, सृष्टि और प्रलय यह एक अपरिवर्तनीय क्रम है, जो कभी बन्द नहीं होता। जब ब्रह्मा (ताप) का दिन होता है, वे जागते हैं, तब सारे जीवों (चराचर) की सृष्टि होती है। और जब वे सो जाते हैं (ताप का ह्रास हो जाता है) रात्रि में सम्पूर्ण सृष्टि नाश को प्राप्त हो जाती है—

अव्यक्ताव्यक्तय: सर्वा: प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्रागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्त संज्ञके॥
भूतग्राम स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते॥

वास्तव में सम्पूर्ण सृष्टि ताप पर आधारित है, जिस दिन ताप का अस्तित्व समाप्त हो जायगा, प्रकाश नहीं रह जायगा, उस दिन सृष्टि का बिनाश स्वयं हो जायगा। जिन पँचतत्वों के आधार पर सम्पूर्ण सृष्टि हुई है, ब्रह्माण्ड के पिण्ड बने हैं, इन्हीं पंचतत्वों से प्रत्येक देह भी बना है 'यथा देहे तथा ब्रह्माण्डे' यह एक पृथक् विषय है। केवल भिन्न भिन्न योनियों में तत्वों की मात्रायें भिन्न-भिन्न है। दार्शनिक दृष्टिकोण से भी सृष्टि का कारण ब्रह्मा (ताप) ही है। पंचतत्वों की सृष्टि भी ताप से ही होती है। यह स्पष्ट है कि सारा ब्रह्माण्ड तेज से भरा है, और उसी पर जीवन स्थिर रहता है। प्राणियों के शरीर में भी उष्णता के रूप में वह विद्यमान है। जिस दिन यह उष्णता नष्ट हो जाती है उस दिन जीवन का अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है।

पौराणिक कथानकों में मानवीय मूल्यों की प्रस्थापना

जैसा कि पुराणों में ही कहा गया है—पुराणों के आख्यानों की रचना यज्ञ के एक महत्वपूर्ण अंश के रूप में की गई है। प्राय: सभी पौराणिक कथाएँ सूत जी ने एक विशेष दीर्घयज्ञ के अवसर पर शौनकादि ऋषियों को सुनाई हैं। वेदों और धर्मसूत्रों में भी इस प्रकार के प्रमाण मिलते हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि पौराणिक कथाओं का श्रवण भी यज्ञों का एक अंग था और इसी उद्देश्य से पुराणों की रचना हुई।

प्राय: शौनकादि ने सूत जी के मुखारविन्दु से कथा-श्रवण शतवार्षिक और द्वादशवार्षिक दीर्घयज्ञों के अवसर पर ही किया है। वैदिक अश्वमेध यज्ञ की पूर्ति में भी एक वर्ष से अधिक समय लगता था। इसने दीर्घकाल तक यज्ञ से अरुचि न हो, मनोरंजन होता रहे इस उद्देश्य से पूजन, ध्यान, चिन्तन, होम के साथ ही कीर्तन तथा कथा-श्रवण से भी समय बिताया जाता था। किन्तु उस कथानक का उद्देश्य यह होता था कि—

(अ) सांस्कृतिक चेतना, ईश्वर के प्रति आस्था, और चारित्रिक उत्थान।
(आ) स्वस्थ्य मनोरंजन।
(इ) मानवजीवन में उच्च मानवीय मूल्यों की प्रस्थापना/प्राणिमात्र में ईश्वर भाव की दृष्टि।

पुराणों में ईश्वर के विभिन्न अवतारों व उनकी लीलाओं का वर्णन है। यों तो विश्व का समस्त चराचर उसी परमात्मा का अंश है परन्तु जिस प्राणी में परमात्मा का विशेष अंश, विशेष दैवीशक्ति विद्यमान होती है उसे "अवतार" माना जाता है। यों तो भगवान के असंख्यों अवतार हैं किन्तु उनमें से दस अवतार मुख्यमाने जाते हैं। इन मुख्य अवतारों में भी जो सम्मान जो प्रतिष्ठा, जो पूज्यत्व भाव भगवान राम तथा श्रीकृष्ण जी को प्राप्त है ऐसा भाव अन्य किसी भी अवतार को आज प्राप्त नहीं है क्योंकि इन दोनो का जीवन चरित्र त्याग और परोपकार का एक आदर्श है, यही कारण है कि समस्त

पुराण महाभारत आदि इनके अलौकिक एवं परोपकार के वृत्तान्तों से भरे पड़े हैं। श्रीकृष्ण एक अलौकिक दिव्य महापुरुष थे जिन्होंने कंस, पूतना, तृणावर्त, अन्धक, अरिष्ट, केशी धेनुकासुर, बकासुर, जरासन्ध चाणूर, कुवलयापीड़ आदि सैकड़ों अत्याचारियों के अत्याचार से कोटि-कोटि जनता को मुक्ति दिलायी। भारतीयसंस्कृति में यों तो तैंतीस करोड़ देवी देवताओं की मान्यता है और अवतारों की संख्या भी असंख्य है लेकिन जो दयालुता जो भक्तवत्सलता भगवान श्रीकृष्ण जी के जीवन चरित्र में मिलती है ऐसी भावतवत्सलता अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचरानहीं होती—गायों और गोपालों को चारों ओर से घेरने वाले दावानल को वे स्वयं पी जाते हैं, यमुना के विषधर कालिय का मंथन करते हैं, गोवर्धनपर्वत को छत्ररूप में धारण कर इन्द्र के कोप से गोकुल की रक्षा करते हैं भरी सभा में एक अबला की लाज रखते हैं, वही कृष्ण विष्णु के रूप में एक हाथी की पुकार सुनकर वैकुण्ठ से दौड़ पड़ते हैं।

वास्तव में पुराणों ने कथा साहित्य के माध्यम से त्याग परोपकार, दया, समस्त प्राणियों में समानता के उच्च आदर्श प्रस्थापित किये हैं। इन कथानकों के चरित्र नायक पुण्डरीक, अम्बरीष, रुक्मांगद, महीरथ, शिवि आदि तक परोपकार के साक्षात अवतार हैं। एक भक्त रन्तिदेव ४८ दिन भूखे रहने के बाद भी प्राप्त अन्न को दूसरों को बांटते हुए कहते हैं—'मुझे न तो भौतिक सुख चाहिए और न मोक्ष। पुनर्जन्म की भी चिन्ता नहीं, मैं तो केवल इतना चाहता हूँ कि किसी प्रकार दुखी लोगों के दुख निवारण में सहायक हो सकूं'' इसमें परहित की भावना कितनी बलवती है?

पुराणों ने मानवमात्र को वर्ण एवं जाति व्यवस्था की संकीर्णता से परे समानाधिकार भी प्रदान किया था, भागवतमहापुराण में (७-९-१.) श्रीकृष्ण के माध्यम से कहा गया है—'ब्राह्मणों से लेकर शूद्रों तक, शूद्रों से परे नीच अन्त्यजों तक, वैदिकधर्म से बाह्य विधर्मियों तक, वे स्त्री हों या पुरुष मेरे प्रति सबका समानाधिकार है।'' यही कारण है कि पुराणों में एक व्याध की चर्चा है जो जन्मना खटिक तथा कर्म से बूचड़ होते भी एक ब्राह्मण ऋषि को परमार्थ का उपदेश देता है। इसी प्रकार एक सामान्य तुलाधार धर्म के रहस्य का प्रतिपादन करता है।

इसी हेतु पुराणों में जो उपाख्यान मिलते हैं, उनमें चरित्र-उत्थान की भावना मुख्यत: मिलती है। स्कंदपुराण की प्रसिद्ध सत्यनारायण की कथा का आज भी घर-घर प्रचार है, उसके अन्दर निहित मूलभावना से अनभिज्ञ जनता

भी एक कथानक के रूप में सत्यनारायण की पूजा करती है। किन्तु इस कथा का अभिप्राय: मिट्टी, पत्थर, सोना, चांदी या कागज के बने उस मूक सत्यनारायण के पूजन से नहीं है अपितु 'सत्य' का आश्रय लेने का आह्वान है। आरम्भ में उस ब्राह्मण ने उस बूढ़े ब्राह्मण के प्रति अपने दिवालिये और दरिद्र स्थिति का सत्य वर्णन किया है जबकि आज का मानव अन्दर से दिवालिया हो, बाहर से साहूकारी का आडम्बर करेगा और किसी भी मूल्य पर अपनी वस्तुस्थिति को अवगत कराने से डरेगा। इसके बाद उस ब्राह्मण ने एक महान् तथ्य ? को अपनाया (सत्य का आश्रय लो, सदा सत्य बोलो) ? जिससे उसका दारिद्र दूर होकर वह धनपति बना। एक साधारण काष्ठ बिक्रेता, वह भी अपरिचित के प्रति प्रकट किया क्या आज के मानव में भी यह गुण है कि वह जो कुछ गुप्त रहस्यों को जानता है, उसे सबके प्रति प्रकट करता है ? मनुष्य मर जाता है, और उसी के साथ वे गुप्त रहस्य भी चले जाते हैं, पर वह उन्हें किसी मूल्य पर दूसरे को नहीं बताना चाहता है। यही विषय राजा और वैश्य के प्रति है राजा ने भी सन्तानदाता, गुप्त रहस्य को एक साधारण अपरिचित वैश्य के लिये सत्य प्रकट किया। इसके बाद वैश्य के जीवन में जो घटनायें घटी हैं—उनमें यह दर्शाया गया है कि झूठ बोलने पर क्या दशा होती है, और मानव अपने निहित स्वार्थ और लोभ के कारण किस प्रकार सत्य की अवहेलना करते हैं, और दुःख उठाते हैं।

केवल एक सत्य की महत्ता में इस प्रकार मंगलकारी कथानक की सृष्टि की गई है, जिसका उद्देश्य सत्य भाषण के प्रति जागृति ही है। पर आज इन भावार्थों के प्रति कौन सोचता है। पत्थर के भगवान पर चन्दन अक्षत चढ़ाकर उपन्यासों के समान एक कहानी सुन ली, जीवन धन्य हो गया; पूजन के बीच ही अवसर आ जाने पर झूठे बोलने में कोई नहीं चूकेगा—सत्य नारायण की यह आधुनिक पूजा है।

इसी प्रकार वामनावतार की कथा है, जान-बूझकर पुरोहित के मना करने पर भी सत्य पालन करने के लिये राजाबलि ने त्रैलोक्य का राज्य देकर स्वयं पाताल में रहना स्वीकार किया। राम का चरित्र अलोभ और अक्रोध का बोध कराता है जिनका राज्याभिषेक होने को हो, सारी प्रजा जिसके पक्ष में हो बिना आज्ञा मिले ही, केवल वस्तुस्थिति का ज्ञान होते ही १४ वर्ष का बनवास ले ले—वह भी प्रसन्नतापूर्वक, कितने त्याग, और अक्रोध को सिद्ध करता है। परशुराम के अवतार की कथा संगठन के प्रति है किस प्रकार लोभी सहस्त्रार्जुन

ने ब्रह्मबल और क्षत्रबल में खाई खोदकर दोनों पक्षों में नर संहार कराया और राम ने किस प्रकार ब्रह्मबल और क्षत्रबल में ऐक्य कर सुख शान्ति स्थापित की।

राजा (शासक) को प्रजा की भावनाओं का किस प्रकार ध्यान रखना चाहिए—यह तथ्य राम द्वारा गर्भिणी अवस्था में सीता के त्याग से प्रकट होता है। प्रजा की भावना रखने के हेतु किस प्रकार राम ने असहाय अवस्था में सीता का त्याग किया, आज के शासक की आलोचना की जाय तो कल जेल की काल-कोठरी मिलेगी। इस कथानक में यह आशय भी है कि निरर्थक बातों को बकने का परिणाम कितना भयानक होता है -- जैसा कि एक धोबी के मिथ्या प्रलाप से यह घटना घटी। एतदर्थ मनुष्य बिना वास्तविक सत्य तथ्यों को जाने किसी के प्रति निंदात्मक बातें या संदिग्ध वार्ता न फैलायें।

यहाँ पर कुछ आक्षेप करते हैं कि वह कैसा महापुरुष था, जिसने एक धोबी के कहने पर उस असहाय अवस्था में सीता का त्याग किया, क्या यह कार्य मानवोचित है? काश वे लोग पुराणकार की भावनाओं से अवगत होते। यहाँ पर पुराण-कार ने कर्म-सिद्धान्त की पुष्टि की है, जो जैसा करेगा वह वैसा फल पायगा :—

अवश्यमेव भोक्तऽव्यं कृतं कर्म शुभाशुभं,

भले ही वह एक साधारण मनुष्य हो, महापुरुष हो, अथवा स्वयं ईश्वर हो, परमात्मा का न्याय सबके प्रति समान है। वहाँ न तो कोई घूस चलती है, न सिफारिश चलती और न पक्षपात होता है। परमात्मा के न्यायालय में जिसके मुख्य न्यायाधीश यमराज हैं, न पक्षपात चलता है, न झूठ और न मत्सरता। केवल धर्म एवं सत्य का ही वहाँ साम्राज्य है —

सभायां धर्म राजस्य धर्म एवं प्रवर्तते,
न तत्र पक्षपातोऽस्ति नानृतं न च मत्सर: ।।

पद्मपुराण तथा अन्य पुराणों में यह कथानक आया है कि सीता ने कुमारी अवस्था में एक दिन उद्यान के वृक्ष पर बैठे एक पक्षी के जोड़े को बहुत सताया, और तब तक उसका पीछा नहीं छोड़ा जब तक कि मादा और नर पक्षी बिछुड़ न गये—संयोग से वह मादा पक्षी गर्भावस्था में थी उसने सीता को श्राप दिया था कि जिस प्रकार की अवस्था में तूने मुझे अपने नर से बिछुड़वाया है, वही स्थिति तेरी भी होगी, यहाँ पर पुराणकार ने इसी श्राप को सिद्ध किया

है। श्री राम को भी पत्नी वियोग का श्राप था। वास्तव में रामायण में नारी के बिना पुरुष को सर्वथा अपूर्ण माना है, इसी हेतु पुरुषोत्तम राम को भी अश्वमेधयज्ञ के अवसर पर परित्यक्ता स्त्री को पुनः स्वीकार करना पड़ा, और इसके पूर्व सुवर्ण प्रतिमा के रूप में अर्धांगिनी सीता की स्थापना की गई थी। इससे स्पष्ट है कि पुराणकार एवं रामायणकार ने नारी को कितना सम्मान दिया—पत्नी के बिना पुरुष का कोई अस्तित्व ही नहीं है, वह कुछ करने का अधिकारी ही नहीं है। इसी आशय की ऋचा वैदिक साहित्य में भी है—

'यदैव जायां विन्दते थ प्रजायते,
तर्हि सर्वो भवति।'
(श. ब्रा० ५।२।१।१०)

जहाँ तक तुलसीकृत मानस की नारी है वहाँ अवश्य ही तुलसी का आत्म दौर्बल्य है। यद्यपि ज्ञान की दिशा उन्हें पत्नी के द्वारा ही मिली—यह कहा जाता है, किन्तु नारी के प्रति उनमें विरोध 'पशुनारी' तथा मानस में बाल्मीकि रामायण एवं पुराणों के उस कथानक का न होना—जिसमें पुनः राम सीता को स्वीकार करना चाहते हैं, आत्म दौर्बल्य ही है। केवल नारी के प्रति ही नहीं कुछ अन्य महत्वपूर्ण स्थलों पर भी तुलसीदास की यह दुर्बलता लक्षित होती है। विषयान्तर होने से इस विषय पर इतना ही कहना काफी है।

यदि पुराणकार यहां पर सीता का त्याग न दिखाते तो आलोचक जो आज सीता के त्याग की आलोचना करते हैं तब यह आलोचना करते कि ईश्वर के यहाँ भी न्याय नहीं होता वहां भी व्यक्तित्व देखा जाता है वहां भी पक्षपात होता है। रामावतार का मूलाधार ही कर्मसिद्धांत है तुलसीदास जी ने भी कर्मसिद्धांत को अपने मानस में सैकड़ों बार दुहराया है।

'कर्म प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस किन्हेउ सो तस फल चाखा।।' आदि।

नारद को छल से वानर का रूप देने के कारण स्वयं ईश्वर को जन्म लेना पड़ा, सीता का हरण हुआ, साक्षात् राम के पिता दशरथ को श्रवण कुमार के श्राप से पुत्र वियोग में दुख से प्राण—त्याग करना पड़ा इन तथ्यों में यही भावना निहित है कि कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है, और ईश्वर का न्याय सबके लिये समान है ईश्वर स्वयं अपने विधान को टाल नहीं सकता—

विहिणा जं चिय लिहियं नलाड—
वट्टीए तेण दइवेंण ।
पच्छा सो वि पसन्नो अन्नह
करिऊँ न हु समत्थो ।।
—प्राकृत गाथा ।

अर्थात् विधाता ने जो लिख दिया, (जो कर्म हमने किये), उसे यदि प्रसन्न होकर वह फिर बदलना भी चाहे, तो ऐसा करने में वह असमर्थ है ।

शासन के मद में मानव कितना अन्धा हो जाता है वह यह समझता है कि जो कुछ हूँ मैं ही हूँ । यहाँ तक कि सत्ता के प्रभाव से वह ईश्वर के अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं करता । परिणामत: उसकी क्या दुर्गति होती है, और प्रजा किस प्रकार उसे शासन से च्युत करती है इसका उदाहरण राजा वेन की कथा है, जो पहले एक अच्छा शासक था, किन्तु बाद में शासन के मद में अन्धा हो गया था ।

पतिव्रत धर्म के अनेकों उदाहरण हैं—स्वयं सीता का चरित्र जो एक राजरानी होकर १४ वर्षों वनवास में रही, लंका में कष्ट सहे, अग्नि परीक्षा में उत्तीर्ण होना पड़ा, गर्भावस्था में अकारण पति से त्यागी गई पर स्वप्न में भी इसके प्रति उन्हें मानसिक विकार न हुआ, अपितु उन्हें हर्ष ही हुआ । शैव्या की कहानी जिसने अपने वेश्यागामी, और कुष्ठी पति को पीठ पर वेश्या के घर ले जाकर काम पिपासा शांत करवाई कितना आदर्श है । यहाँ भी आलोचक यही कहेंगे कि शैव्या ने जो किया वही सबको करना चाहिए ? क्या यह शैव्या के प्रति न्याय है । यहाँ पर पुराणकार ने न तो उस वेश्यागामी की प्रशंसा की है, और न इसे स्त्रियों का कर्तव्य ही कहा है, उसने केवल पतिव्रत धर्म की चरमसीमा के दर्शन कराये हैं कि किस प्रकार स्त्री ने पति के लिये अकरणीय कार्य तक किये ।

कहने का तात्पर्य यह है कि पुराणों में पग-पग पर भावमय उपदेश मिलते हैं, और पुराणों के कथानक जीवन में चरमोत्कर्ष लाने वाले उच्च-विचारों से ओत-प्रोत हैं ।

यज्ञों में पुराणों की आवश्यकता

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वैदिक यज्ञों का एक अनिवार्य अंग कथा श्रवण भी था, प्राय: सभी यज्ञों में कथा श्रवण होता होगा । उदाहरण के लिये—अश्वमेध यज्ञ के आरम्भ से घोड़े के दिग्विजय करके वापस आने तक

लगभग एक वर्ष का समय लगता था, इतने पूरे समय तक यज्ञ का क्रम चलता रहता था, इतने दीर्घकाल में राजा को सभी इतिहास, पुराण, समाचार सुनाये जाते थे। यज्ञकर्ता राजा के सम्पूर्ण राज्य एवं अन्यान्य राज्यों का विस्तृत वर्णन, सभी वर्णों, धर्मों और प्रजा का वर्णन, उपास्य देवों, अध्ययनीय विद्याओं, स्थावर-जंगम सभी भूतों (उद्भिज, स्वेदज, अण्डज, जरायुज), सभी राजाओं का वर्णन किया जाता था, जिससे समस्त ऐतिहासिक, भौगोलिक, धार्मिक, सामाजिक और जैवकीय ज्ञान प्राप्त हो जाय। इस प्रकार पुराण सर्वांगीण ज्ञान के भंडार सिद्ध होते हैं।

अश्वमेध के घोड़े को छोड़े जाने के बाद यज्ञकर्त्ता अपने आसन पर बैठता था, और ऋत्विज (होम करने वाले), ब्रह्मा (यज्ञ का प्रधान निरीक्षक), उद्गाता देवताओं (की रचनात्मक स्तुति गानेवाला), और अध्वर्यु (यज्ञ का विधिवत् सँचालन और सँपादन कर्त्ता) आदि के साथ इन कथाओं को सुनता था। इन आख्यानों को अध्वर्यु की आज्ञानुसार होता ('होता' यज्ञ का एक नियत व्यक्ति है, जिसका कार्य यज्ञ के अवसर पर मंत्रों को पढ़ना होता है) वीणावादकों के माध्यम से सुनाता था। 'इतिहास कहो, इतिहास में यजमान की रुचि उत्पन्न करो', अध्वर्यु की यह आज्ञा मिलने पर होता कथाकारों को यह बतलाया था कि आज की कथा का विषय क्या होगा तब कथाकार वीणा पर 'होता' द्वारा निर्दिष्ट विषय पर उन कथाओं, उन मनुष्यों के चरित्र का वर्णन करते थे—जिन्होंने अपने जीवन में उक्त विषय में प्रशंसनीय कार्य किये, जिनका जीवन-चरित्र उस विषय पर आदर्श स्वरूप था—जिससे प्रेरणा लेकर अन्य मानवों के जीवन में भी उत्कर्ष निश्चय था। वे ही उपाख्यान कुछ परिवर्तित रूप में आज विद्यमान हैं—

तानध्वर्युः संप्रेष्यति वीणागणगिन इत्याह
पुराणैरिमं यजमानं राजभिः साधुकृद्भिः
सँगायतेति तं ते तथा सँगायन्ति तद्यदेनमेवं
सँगायन्ति पुराणै रेवैनं तद्राजभिः साधुकृद्भिः
स लोकं कुर्वन्ति।

—शतपथ ब्रा० १३।४।३।३

इस प्रकार यज्ञों के अवसर पर पुराणों की आवश्यकता, उपयोग तथा वैदिक यज्ञ काल से चली आने वाली पुराणों की परम्परा स्पष्ट हो जाती है।

पुराणों के शंकापूर्ण स्थल और समाधान

पुराणों में जो परिवर्तन और परिवर्धन हुए उसके कारण पुराणों का महत्त्व ऐतिहासिक दृष्टि से कम हो गया है, और लोगों को कुछ स्थलों पर अयुक्ति संगत साहित्य दृष्टिगोचर होने पर केवल उस स्थल के प्रति ही नहीं अपितु पुराणमात्र में मिथ्या का आभास होने लगता है।

(१) सबसे अधिक संशय पुराणों की वंशावली के सम्बन्ध में है। पुराणों के अनुसार कुछ प्रकाशनों में तो सत्ययुग में राजा विक्रम से लेकर कपिलभद्र तक (विक्रम, विवत्स, वैरोचन, मुचकन्द, भैरव, नन्दक, अन्धक, हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, प्रह्लाद, पद्धति बलि, कपिलासुर, और कपिलभद्र) कुल १४ शासक हुए। इसी प्रकार त्रेता में भी मनु से लेकर मेघद्युति तक (मनु, धूम्राक्ष, व्याकुक्षि, हरिश्चन्द्र, रोहिताश्व, सगर, मुंज, अश्वभुज, परिघ, भगीरथ, दिलीप, रघु, अज, दशरथ, राम, कुश, अग्निवर्ण, मेघद्युति) १८ शासकों का उल्लेख है। और द्वापर में भी सोम से यौवनाश्व तक (सोम, बुध, पुरुरवा, नल, अनल, नहुष, मान्धाता, दुष्यन्त, शान्तनु चित्रवीर्य, विचित्रवीर्य, उपेन्द्र, अर्जुन, अभिमन्यु, परीक्षित, जनमेजय, वृषराज और यौवनाश्व) १८ चन्द्रवंशियों का वंश चला, जबकि—

सत्ययुग के वर्ष	—१७२८·००
त्रेता	—१२९६०००
द्वापर	— ८६४०००
	कुल ३८,८८,००० वर्ष

इतने लम्बे समय में कुल ५२ (सत्ययुग १४, त्रेता १८, द्वापर १८) पीढ़ी मानव वंश चला - यह कैसे सम्भव है?

(२) पद्मपुराण (आनन्दाश्रम पूना से प्रकाशित) में हरिश्चन्द्र के बाद वंशावली इस प्रकार है—हरिश्चन्द्र, रोहित, वृक, बाहु सगर आदि। और विष्णुपुराण (रामगोविन्द त्रिवेदी टीका) में—हरिश्चन्द्र, रोहिताश्व, हरित, चंचु, विजय शशक, वृक, बाहु, सगर हैं। इस प्रकार एक में हरिश्चन्द्र से सगर पाँचवीं पीढ़ी में आते हैं, दूसरे में नवीं पीढ़ी में आते हैं। यही अन्तर

आगे भी चलता है। पहले मत से हरिश्चन्द्र के बाद २२वीं पीढ़ी में राम हुए, और विष्णु पुराणानुसार ३३वीं पीढ़ी में हुए। इसी प्रकार एक में राम रघु से चौथे पुरुष थे (रघु, अज, दशरथ, राम) और दूसरे से छठे पुरुष थे (रघु, दिलीप, अज, दीर्घबाहु, दशरथ, राम)। इस वंश में दिलीप नाम के दो पुरुष हुए हैं— पहले भगीरथ के पिता, और दूसरे अज के पिता। किन्तु एक में दूसरे दिलीप को राम से ६ पीढ़ी पहले (रघु के पितामह) माना है।

यह हमने उदाहरणार्थ केवल एक छोटा सा उद्धरण दिया है। जो पुराणों से परिचित हैं—वे इन अशुद्धियों से अवगत हैं—तात्पर्य यह है कि पुराणों की वंशावली में बहुमत है।

(३) सत्ययुग की (विस्तृत) वंशावली उपलब्ध नहीं है।

त्रेता में सूर्य वंश की जो विस्तृत सूची है—विष्णुपुराणानुसार उसमें मनु से लेकर राम तक ६२ और आगे १४ कुल ७६ पीढ़ियों का उल्लेख है। त्रेता के १२,९६,००० वर्षों में केवल इतने ही पीढ़ी वंश चला? यह तथ्य कैसे स्वीकार किया जा सकता है?

यहाँ पर कुछ रूढ़िवादी पुराणपन्थियों की यह दलील है कि सत्ययुग में मनुष्यायु एक लाख वर्ष, त्रेता में दस हजार, द्वापर में एक हजार होती थी। निःसन्देह यह कल्पना से पूर्ण अतिरंजित वर्णन है—पुराणों में भी ऐसे उल्लेख कई जगह आये हैं—

दशवर्ष सहस्राणि दशवर्षं शतानि च।
जीवन्ति ते महाभाग.................. ॥

⊛ ⊛

'आयुर्दश सहस्राणि'
इक्ष्वाकु तनयो योऽसौ निमिर्नाम सतु
सहस्र सम्वत्सरं सत्रमारभे।

(वि॰ पु॰)।

⊛ ⊛

नैमिषे निमिषक्षेत्रे ऋषयः शौनकादयः।
सत्रं स्वर्गाय लोकाय सहस्रमसमासत॥

(भा॰ १।१।४

दशवर्ष सहस्राणि दशवर्ष शतानि च ।
रामो राज्यमुपासित्वा ब्रह्मलोकं प्रयास्यति ।।
(वा० रा०)

इनमें ग्यारह हजार वर्ष की आयु, दस हजार वर्ष की आयु, हजार वर्षों तक चलने वाले यज्ञ, तथा श्रीराम द्वारा ग्यारह हजार वर्षों तक शासन करने का वर्णन है । अस्तु,

आधुनिक युग में यह बात किसी भी प्रकार स्वीकार्य नहीं हो सकती कि पहले आयु इतनी लम्बी होती थी, यद्यपि कुछ रूढ़िवादी इसे सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं । हमारे पास वैदिक साहित्य के प्रमाण भी हैं—

'सं जीव शरद: शतं'

यहाँ पर वेद में सौ वर्ष तक जीवित रहने का आशीर्वाद दिया है (हजार, दस हजार की आयु में सौ वर्ष की आयु का आशीर्वाद कैसा ?) । एक अन्य मंत्र में सूर्य से शतायु की प्रार्थना की गई है—

'पश्येम शरद: शतं—...आदि'
(यजु० ३६।२४)

यहाँ भी कुछ लोग 'शतम्भूयश्च शरद:' की मनमानी व्याख्या कर एक शताब्दी नहीं अपितु कई शताब्दियों का प्रयोजन बतलाते हैं, किन्तु इसी के दूसरे मंत्र में स्पष्ट रूप से सौ वर्ष की आयु-परिधि घोषित की गई है—

इमं जीवेभ्य: परिधिं दधामि,
मैषांनु गाद परो अर्थ मेतत् ।
शतं जीवन्तु शरद: पुरुची,
रन्तर्मृत्युं दधता पर्वतेन ।।३५।१५।।

अत: स्पष्ट है कि पुराणों में वर्णित पूर्वोक्त आयु काल्पनिक है । पुराण धार्मिक तथा कथा साहित्य हैं, और उन्हें भावपूर्ण काल्पनिक आवरण में लिखा गया है । अत: पुराणों में ऐतिहासिक सामग्री तो है, किन्तु वह ऐसा इतिहास नहीं कि उसको उसी रूप में सत्य माना जाय—हाँ उससे आधार लेकर निष्कर्ष निकाला जा सकता है ।

पुराणों में ऐतिहासिक सामग्री उसी अंश में है—जिसमें सृष्टि, प्रलय, वंश और मन्वन्तरों का वर्णन है और जो वंशानुचरित (कथा साहित्य) नामक अंश

है उसका पुराणों की ऐतिहासिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है और पुराणों के इस अँश में कथा-साहित्य को रुचिकर बनाने हेतु जितना हो सका है—निःसंकोच कल्पना का पुट दिया है। एतदर्थ कथा-साहित्य को उसी रूप में इतिहास की कसौटी पर परखना मूर्खता ही होगी, क्योंकि कथा-साहित्य के जो उद्देश्य कहे गये हैं उनमें इतिहास से कोई प्रयोजन नहीं है।

वस्तुत: किसी भी युग में सम्पूर्ण वँश परम्परा का संकलन एवं वर्णन सम्भव ही नहीं है। फिर चौदह मन्वन्तरों की राजवँशावलियों का वर्णन? इसकी तो कल्पना भी सम्भव नहीं है। वास्तव में विभिन्न पुराणकारों ने प्रत्येक वँश में, प्रत्येक युग में जो विशिष्ट महापुरुष हुए हैं—उन प्रमुख व्यक्तियों में से कुछ का वर्णन किया है।

इस प्रकार सौ वर्ष की आयु मानकर विष्णु पुराण के अनुसार मनु से लेकर कुल ७६ वँश (पीढ़ी) में कितना समय व्यतीत हो सकता है। चतुर्थांश तक ब्रह्मचर्य में बिताकर अधिक से अधिक ३० वर्ष तक सन्तानोत्पत्ति अनिवार्य है। इस प्रकार प्रत्येक ३० वर्ष बाद प्रत्येक पीढ़ी बदली।

अत: ७६ × ३० = २२८० इस प्रकार लगभग सवा दो हजार वर्ष में ही ७६ पीढ़ियां हो जाती हैं जबकि त्रेता का समय १२,९६,००० वर्षों का है।

अत: मुझे यह स्वीकार करने में संकोच नहीं है कि यद्यपि पुराणों की वंशावली का अंश ऐतिहासिक अंश है, किन्तु जो वंशावली आज पुराणों में विद्यमान है वह पूर्ण नहीं है। न तो मानव जाति की सृष्टि से अब तक वंशावली का सही संकलन सम्भव ही है, और न वह प्राप्त है। कदाचित कुछ पहले उसका कोई अंश रहा भी होगा तो वह काल के ही प्रवाह में नष्ट हो चुका होगा। और जब पुराणों में परिवर्तन और परिवर्धन हुआ तब पुराणकारों ने पौराणिक कथानकों के अनुसार एक वंशावली बनाकर वह अंश जोड़ दिया होगा। यह निम्न तथ्यों से भी सिद्ध होता है—

(१) वेदों में वर्णित राजाओं के वंशों की अनुपलब्धि।

(२) युगमान के अनुसार राजवंशों की अपूर्णता।

(३) पुराणों में परस्पर वंशावलियों में मत-वैषम्य।

यहाँ पर कुछ पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित लोगों का यह मत है कि मानव सृष्टि इतनी पुरानी नहीं है, जैसा कि पुराणों में उल्लेख है। एतदर्थ

उनके मत से पूर्वोक्त वंशावली ही सही है और एक दूसरे मत से पुराणों के युगमान सही नहीं हैं। अन्यत्र हम इन भ्रान्तियों का भी निराकरण अपने मत की पुष्टि-हेतु करेंगे।

एक शंका पुराण के कथानकों में नाम सादृश्य पर आधारित है। विष्णु पुराण के अनुसार मनु के पुत्र इक्ष्वाकु के पुरोहित भी वशिष्ठ थे। उसके ३८वीं पीढ़ी में सगर के पुरोहित भी वशिष्ठ थे, और उन्होंने ही सगर को हैहय वंशीय राजाओं को मारने से रोका था। सगर की चौथी पीढ़ी में दिलीप के गुरु भी वशिष्ठ थे। उन्हीं की गो रक्षा कर सन्तान प्राप्त हुई थी और दशरथ तथा राम के काल में भी वशिष्ठ विद्यमान रहे। क्या त्रेता के आरम्भ से अन्त तक ६२ पीढ़ी वशिष्ठ जी रहे ?

इसी के साथ विश्वामित्र भी आते है। राम से ३३ पीढ़ी पहले त्रिशंकु ने विश्वामित्र की सेवा की थी और उन्होंने उसे संदेह स्वर्ग भेजा था। त्रिशंकु के पुत्र हरिश्चन्द्र के साथ तो उनकी गाथा सर्व विदित है वही विश्वामित्र राम के समय में रहे जिनकी उन्होंने यज्ञरक्षा की, और वे जनकपुरी स्वयंवर में ले गये। क्या विश्वामित्र ३३ पीढ़ी तक विद्यमान रहे ?

इसी प्रकार जामदग्न्य का उपाख्यान है। पुराणों के अनुसार गणना करने पर परशुराम के जन्म से श्रीराम का जन्म काफी वर्षों बाद होना चाहिए, किन्तु राम के समय में परशुराम की विद्यमानता सर्वविदित है।

इसका कारण यह है कि यहाँ पर 'जामदग्न्य', 'वशिष्ठ', 'विश्वामित्र' आदि शब्द नाम बोधक नहीं—अपितु वंश या कुल बोधक हैं। पुराकाल में इसी प्रकार की परिपाटी विद्यमान थी और एक नाम के भी कई व्यक्ति हो सकते हैं।

(अ) वैदिक ब्राह्मण ग्रंथों में जो वंशावली है, उससे इसकी पुष्टि अच्छी प्रकार हो जाती है, जहाँ कई पीढ़ियों के मनुष्यों को एक ही नाम से संबोधन आया है। निः सन्देह यह गोत्र या कुल का वाचक है।

'भारद्वाजाद्भारद्वाजो भारद्वाजाच्चासुरायणाच्च गौतमाच्च गौतमो भारद्वाजाद्भारद्वाजो वैजवापायनाद्वैजवापायनः कौशिकायनेः कौशिकायनिर्घृत कौशिकाद्घृतकौशिकः पाराशर्यायणात्पाराशर्यायणः पाराशर्यात्पाराशर्यो जातूकर्ण्याज्जातूकर्ण्यो भारद्वाजाद्भारद्वाजो भारद्वाजा— — ......' इत्यादि। यहाँ पर २३ पीढ़ियों तक 'भारद्वाज' संबोधन है।

(आ) राम के प्रति राघव', 'काकुत्स्थ' आदि प्रयोग ।

(इ) राजा जनक के प्रति 'विदेह' सम्बोधन ।

(ई) सम्प्रति भी भारद्वाज वंशी कुछ लोग अपने नाम जाति के रूप में 'भारद्वाज' शब्द प्रयोग करते हैं । इसी प्रकार 'सारस्वत', 'गोयल', सिंघल', आदि कुल बोधक सम्बोधन अद्यावधि तक प्रयुक्त होते हैं । भृगुवंशी अपने को 'भार्गव' अद्यावधि लिखते हैं, 'भृगु' का नाम 'भार्गव' (भृगु का वंशधर) है, शुक्राचार्य को भी भार्गव कहा है 'उसना भार्गव: कवि:' इत्यादि ।

(उ) एक नाम के भी एक ही समय में कई व्यक्ति होते हैं, कालान्तर में तो कोई बात ही नहीं । अंशुमान पुत्र दिलीप और आगे चलकर इसी वंश में विश्वसह के पुत्र दिलीप तथा मूलक के पुत्र दशरथ और इसकी आठवीं पीढ़ी में अज के पुत्र भी दशरथ थे ।

(विष्णुपुराण—रामगोविन्द त्रिवेदी सम्पादित तथा पद्मपुराण—आनन्दाश्रम प्रेस, पूना)

अत: यह सिद्ध है कि पूर्वोक्त नाम व्यक्ति वाचक नहीं अपितु वंश के वाचक हैं । अथवा उसी के नाम भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को सूचित करते हैं ।

क्या प्रत्येक युग में घटनाओं की पुनरावृत्ति होती है ?

पौराणिक कथानकों के सन्दर्भ में एक प्रश्न यह भी विचारणीय है कि क्या प्रत्येक चतुर्युगी में उसी प्रकार से घटनाओं की पुनरावृत्ति होती है ?

जन सामान्य की यह धारणा है कि जिस प्रकार दिन-रात, गर्मी, वर्षा, शीत ऋतु की क्रमश: पुनरावृत्ति होती रहती है तदनुसार प्रत्येक चतुर्युगी में उन्हीं घटनाओं की पुनरावृत्ति होती रहती है । मान्यताओं के अनुसार वर्तमान में २८वीं बार कलियुग चल रहा है । सत्य, त्रेता तथा द्वापर क्रमश: २८ बार आ चुके हैं । त्रेता में भगवान राम का तथा द्वापर में भगवान श्रीकृष्ण का अवतार हुआ था । अत: उनका मानना यह है कि प्रत्येक त्रेता में राम और प्रत्येक द्वापर में श्रीकृष्ण का अवतार होता रहता है । अर्थात् एक चतुर्युगी में जो घटनायें होती हैं, उन्हीं घटनाओं की पुनरावृत्ति ४३,२०,००० वर्षों बाद होती रहती है । सम्भव है, कुछ घटनाओं की पुनरावृत्ति भी होती हो, लेकिन समान रूप से सभी घटनाओं की पुनरावृत्ति होती हो—पुराणों से इसकी पुष्टि नहीं होती ।

इसका एक प्रमाण वायुपुराण और ब्रह्म पुराण में समान रूप से मिलता है। तदनुसार श्री राम का जन्म चौवीशवें महायुग में हुआ था (अर्थात् प्रत्येक महायुग में राम का जन्म नहीं होता)—

चतुर्विंशे युगे राम वशिष्ठेन पुरोधसा ।
सप्तमो रावणस्यार्थे जज्ञे दशरथात्मजः ।।
—वायुपुराण, खण्ड ४ उपो० अ ३६/९१

चतुर्विंशे युगे वत्स त्रेतायां रघुनन्दनः ।
रामोनाम भविष्यामि चतुर्व्यूहः सनातनः ।।
ब्रह्मपुराण;
—उपोद्घातपाद—३,अ० ३७, श्लोक ३०

यद्यपि सन्त तुलसीदास जी ने रामचरित मानस में रामकथा प्रारम्भ करते हुए, तथा उत्तरकाण्ड में भी काकभुशुण्डि के माध्यम से प्रत्येक कल्प में (अथवा कई कल्पों में) राम के अवतार होने की वात कही है—

"कलप-कलप प्रभु अवतरहीं, रामचरित नाना विधिकरहीं"

\+ \+ \+

"जब जब राम मनुज तनधरहीं, भक्त हेतु लीला बहुकरहीं"

रामावतार के सम्बन्ध में ही कितने कथानक हैं, कहीं वे नारद के श्राप वश अवतार लेते हैं तो कहीं मनु तथा शतरूपा की तपस्या के कारण। यही स्थिति रावण की भी है कभी ऋषिश्राप से जय–विजय रावण–कुंभकर्ण जन्म लेते हैं तो कहीं हरगण नारद के श्राप से रावण कुंभकर्ण होकर जन्म लेते हैं।

इन तथ्यों से यह स्पष्ट है कि प्रत्येक कल्प में न सही, लेकिन कुछ कल्पों में घटनाओं की पुनरावृत्ति निश्चित रूप से होती है। सम्भव है कि २४वें कल्प में श्रीराम का अन्तिम अवतार हुआ हो, अथवा वायुपुराण तथा ब्रह्मपुराणकार ने २४वें अवतार का ही वर्णन किया हो।

कथानकों में वैषम्य

पुराणों के कथानकों में भी कहीं कहीं विषमता देखने को मिलती है। इसके निमित्त एक दो उदाहरण पर्य्याप्त होंगे। श्रीराम से संवंधित घटनाओं में कुछ पुराणों के आधार पर रामचरित मानस में श्री तुलसीदास जी ने ताड़िकावध के उपरान्त

महर्षि विश्वामित्र द्वारा श्रीराम को 'बला-अतिबला' विद्या प्रदान करने का वर्णन है जब कि वाल्मीकि रामायण के अनुसार विश्वामित्र जी ने अयोध्या से कुछ दूर जाने पर सरयूतट पर ही यह विद्या दे दी थी। कहीं पर (तुलसी कृत रामचरित मानस) श्रीपरशुराम शिवधनुष के भंग होने के तत्काल बाद उपस्थित होते हैं जब कि महर्षि वाल्मीकि के अनुसार श्रीराम की बारात जब जनकपुर से अयोध्या को लौटती है—तब रास्ते में मिलते हैं। इत्यादि,

इसी प्रकार के अनेक वैषम्यपुराणों में भी यत्र-तत्र मिलते हैं, इसका कारण यही है कि जिस प्रकार एक ही कथानक को हर व्यक्ति अलग-अलग ढंग से प्रस्तुत करता है उसी प्रकार जब पुराणों का परिवर्धन हुआ तो भिन्न-भिन्न पुराणकारों ने अपनी-अपनी शैली से कथानक लिखे अतः कथानकों में थोड़ा बहुत अन्तर होना स्वाभाविक है।

पुराणों में परिवर्तन और परिवर्धन

समय-समय पर पुराणों में परिवर्तन और परिवर्धन होता रहा, इससे सभी सहमत हैं। इसका एक मुख्य प्रमाण यह भी है कि शतपथ ब्राह्मण के अंशों से यह स्पष्ट है कि अश्वमेध यज्ञ पर पुराणों के आख्यान सुनाये जाते थे। और वैदिक काल में पुराणों की विद्यमानता सिद्ध की जा चुकी है। किन्तु अश्वमेध के अवसर पर जिन प्रमुख राजाओं के आदर्श चरित्रों का कथानक गाया जाता था, उनमें यम, वैवस्वत, वरुण, आदित्य, सोम, वैष्णव, अर्वुद, काद्रवेय, कुवेर, वैश्रवण, आसितसेन, मात्स्यसामंद, ताक्ष्यंवैवश्यत, और धर्मइन्द्र आदि मुख्य थे। आधुनिक पुराणों में इनमें से कुछ (अर्बुद, काद्रवेय, आसितधान, मात्स्यसामंद)—का चरित्र अलभ्य है।

पुराणों में वर्णित वंशावली भी तर्कसंगत नहीं है, जिसका उल्लेख कर चुके हैं।

ब्रह्माण्ड पुराण का वह अंश जिसमें आन्ध्र राजाओं के समय तक का वर्णन है। जिनका काल आधुनिक इतिहासज्ञों के मतानुसार ई० सन् १५० के लगभग रहा, निःसंदेह नया अंश है। भविष्य पुराण तथा मत्स्य पुराण में भी यह अंश है। श्री ल० शा० जोशी के मतानुसार बाइबिल के आदम तथा अब्राहम सम्बन्धी अंश भी भविष्य पुराण में आया है—उन्होंने इसे अंग्रेजों के बम्बई में आ जाने के बाद बाइबिल से लेकर जोड़ा गया माना है। कई पुराणों म विदेशी आक्रमण तक के शासकों का उल्लेख भी मिलता है—जिसे बाद में जोड़ा गया कहा जाता है।

बाइबिल के इस अंश के बारे में—जैसा कि मैंने अपनी अन्य पुस्तक 'वैदिक साहित्य और संस्कृति' में यह सिद्ध किया है कि ईसाई धर्म की उत्पत्ति भी वैदिक धर्म से हुई, और वैदिक युग में पुराणों की विद्यमानता थी ही—एतदर्थ यह युक्ति संगत मत है कि बाइबिल का यह अंश पुराणों (भविष्य) से लिया गया होगा—न कि पुराण में बाइबिल से—क्योंकि वैदिक युग में भारत का योरोप आदि से आवागमन सम्बन्ध रहा है।

मैं तो इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि राजवंशावली एवं अन्य ऐतिहासिक तथ्य अन्य पुराणों की अपेक्षा भविष्यपुराण व विष्णु पुराण में सही है। सम्भव है मत्स्यपुराण का वह अंश जिसमें आन्ध्र राजाओं का वर्णन है इसी भविष्य-पुराण से उद्धृत हो ब्रह्माण्ड पुराण ने तो यह स्वयं स्वीकार ही किया है। भविष्य पुराण में वर्णित राजवंश केवल आन्ध्रों के ही समय तक नहीं है—अपितु भावी काल के राजाओं और उनके चरित्रों का वर्णन भी (वंश के रूप में) है। यद्यपि भावी राजवंश का वर्णन भागवत, विष्णुपुराण आदि में भी है, किंतु वह सम्पूर्ण प्रत्यक्ष इतिहास से नहीं मिलता। भविष्यपुराण में भविष्य वर्षों के हेतु जो लिखा गया है—इन भविष्यवाणियों से तो यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि आन्ध्रों के समय में भी पुराणों में परिवर्द्धन नहीं हुए—यह पुराणकारों ने अपनी दिव्यदृष्टि से लिखा है। किन्तु हम यथार्थ स्वीकार करना होगा, क्योंकि व्यक्तिगत वर्णन एवं तालिका परिवर्धित अंश ही है।

उप पुराणों की तालिका में समानता नहीं है। गरुड़ पुराण में वामन पुराण को हटाकर शिव और वायु दो पुराण माने हैं—जबकि अन्य पुराणों में 'शिव' या 'वायु' का भेद है। अष्टादश पुराणों में शिव पुराण माना जाय, या वायु पुराण ? यह मतभेद भी उल्लेखनीय है। कूर्म पुराण में पुराणों की संख्या १९ कही गयी है।

परिवर्तन और परिवर्धन क्यों हुए ? यह जान लेना भी आवश्यक है, जिससे इस विषय पर और भी प्रकाश पड़ सकता है। यह तो सर्वविदित है कि वैदिक उपासना यज्ञ सम्बन्धी थी, उसमें प्रत्येक पर्व पर विभिन्न प्रकार के यज्ञ होते थे—और पुराणों का उपयोग भी यज्ञों के अवसर पर ही होता था। बौद्ध धर्म-उदय के समय (३००।४०० ईसा पूर्व) प्राय: सम्पूर्ण विश्व वैदिक धर्मानु-यायी था और उस समय में उस धर्म के प्रति सर्वत्र एक अरुचि-सी होने लगी थी। यज्ञ सम्बन्धी हिंसा के प्रति लोगों में घृणा का संचार होने लगा था। चार आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, और सन्यास) में रहने से लोग डरने लगे थे—इसी कारण उस समय के आसपास बौद्ध, ईसाई एवं बाद में इस्लाम आदि नये धर्मों का उदय हुआ। लोग चाहते थे कि वैदिक धर्म का कठोर तथा हिंसात्मक रूप बदला जाय। वैदिक धर्म का दूसरा पक्ष दार्शनिक (ज्ञान काण्ड) था, किन्तु साधारण अज्ञानी और सांसारिक सुख भोगों के प्रति आस्था रखने वाले मानव को वह अपनी ओर आकृष्ट न कर सका क्योंकि इस क्षेत्र में ज्ञानी और विषय-विमुख मोक्ष-कामियो की ही प्रवृत्ति हो सकती है।

उक्त संक्रमण काल में हमारे सास्कृतिक नेताओं ने वैदिक धर्म को लड़खड़ाते देखा, और उसे पूर्णतः नष्ट होने से बचा लिया। यही वह समय है जब पुराणों में परिवर्तन और परिवर्धन हुए—यह समय लगभग ७०० वर्ष ईसा पूर्व से १०० वर्ष ई० पू० तक माना जा सकता है।

सम्भवतः इस समय किसी कारणों से वैदिक पुराणों का कुछ अँश नष्ट हो चुका था। उस अँश को काल्पनिक रूप से पुनः जोड़ दिया गया। राजवँशावलियों में अशुद्धियाँ इसके प्रमाण हैं—जिसका अन्यत्र उल्लेख किया गया है। वेदोक्त राजाओं के आख्यानों की पुराणों में अनुपलब्धि का भी यही कारण है। अनेकों व्रत, उपवास सम्बन्धी आख्यान, आधुनिक प्रचलित पर्वों आदि का कृत्य, तीर्थयात्रादि विषय वैदिक नहीं हैं। भारतीय संस्कृति को पूर्णतः नष्ट होने से बचाने के लिये पुराणों में अनेकों नये विषयों को देकर वैदिक धर्म के स्वरूप को रुचिकर तथा परिवर्तित कर दिया है। आज हमारे बीच संस्कृति के जो चिन्ह विद्यमान हैं, उनमें कम से कम पचास प्रतिशत इस नये संस्कृति के अँश हैं जिन्हें पुराणों में समावेश किया गया है।

सभी पुराणों में मन्वन्तर काल मान राजवँश का अँश प्रायः समान है, और कथानकों में भिन्नता है। वैदिक साहित्य में अधिकांश स्थलों पर (आपस्तँब धर्मसूत्र १-१९-१३।१५, १-२९ ७, २-२३-३।५, २-२४-५।६ आदि) पुराण एक वचन में आये हैं। किन्तु स्मृतियों और ऋग्विधान आदि वैदिक साहित्य में बहुवचन का प्रयोग भी मिलता है। इन आधारों पर यह अनुमान किया जा सकता है कि पहले पुराणों की संख्या अधिक से अधिक ४-५ तक रही होगी। और इस परिवर्तन के समय उक्त पुराणों के आधार पर अन्य पुराण प्रचारार्थ रचे गये। जिनमें मन्वन्तर काल मान आदि विषय एक ही रहा, पर कथानक पुराणों के लेखकों ने अपनी-अपनी रुचि और शैली से लिखा। धर्मशास्त्र सम्बन्धी पुराणों का अँश भी प्राचीन है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में पुराणों का उद्धरण इसके प्रमाण हैं।

अन्ततः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ईसा से ७०० वर्ष पूर्व से लेकर १०० वर्ष पूर्व तक पुराणों में कुछ नये अँश जोड़े गये और कुछ अँश जो नष्ट हो चुके थे, उन्हें काल्पनिक आधारों पर (पौराणिक कथानकों के आधार पर जो कि पूर्णतः स्पष्ट न थे) पूर्ण किया गया।

पुराणों से साहित्य तथा कला को प्रेरणा

पुराणों ने सांस्कृतिक प्रचार और प्रसार की दृष्टि से जिस माध्यम को चुना, उससे कोई भी क्षेत्र अछूता नहीं बचा, उक्त समय में कथा साहित्य के प्रति लोगों की विशेष रुचि थी—जिससे पुराणों को अपने उद्देश्यों में अच्छी सफलता मिली। स्वयं बौद्ध धर्म भी इसके प्रभाव से अछूता नहीं बचा, जब उसने देखा कि कथा-साहित्य के माध्यम से पौराणिक संस्कृति का तीव्रतर प्रसार हो रहा है, तो बौद्ध धर्म ने भी कथा साहित्य का संकलन किया। भारहुत शिला लेख से ज्ञात होता है कि बौद्ध मत के आचार्यों ने कथा साहित्य का निर्माण धार्मिक प्रसार और मानवों के बीच घनिष्ठता बढ़ाने के उद्देश्य से किया था। यहाँ तक कि जीव के आवागमन की कथायें तक भी पशु और मनुष्य रूप में प्रदर्शित की थीं। उन्होंने जातक कथाओं में पशु जीवन की कहानियों द्वारा बुद्ध भगवान तथा उनके समकालीन लोगों का महत्व एवं उनके पूर्व जन्म के महान कर्मों का निरूपण कराया था।

यद्यपि कथा-साहित्य का आरम्भ वैदिक काल एवं इससे भी पहले से दन्त कथाओं के रूप में विद्यमान रहा होगा, किन्तु उसका कोई स्वरूप विद्यमान नहीं है, और ऋग्वेद आदि में मण्डूक सूक्त यम-यमी सूक्त,अक्ष सूक्त आदि के अलावा कोई कथा-साहित्य के अनुरूप वस्तु नहीं है। उपनिषदों में कथा-साहित्य का कुछ रूप दृष्टिगत होता है, और इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रंथों में भी कुछ पूर्ववर्ती रूप मिलता है। आगे चलकर पुराणों ने कथा-साहित्य को नया स्वरूप प्रदान किया—और इनका उपयोग उपदेश सामग्री के प्रचार में किया। इस प्रकार नीति और अर्थशास्त्र से सम्बन्ध रखनेवाली उपदेश कथाओं का सृजन हुआ।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वास्तव में कथा साहित्य का उद्गम पुराणों से हुआ, आज तो कहानियों और उपन्यासों का प्रमुख युग है, किन्तु कवियों और लेखकों को प्रेरणा पुराणों से ही मिली—यह तथ्य बहुत कम लोग जानते हैं। पुराणों की ही प्रेरणा से विश्व-विख्यात पँचतन्त्र की कथाओं का निर्माण हुआ, और इससे आगे चलकर अनेक कवियों और लेखकों ने प्रेरणा ली। कम्बोडिया के एक शिला लेख से पता चलता है कि पुराणों के ही समय

[६०० वर्ष ई० पू०] गुणाढ्य नामक व्यक्ति ने 'बृहत्कथा' प्राकृत भाषा में लिखी थी, ग्रंथ की अलभ्यता से उसके बारे में कोई जानकारी आज नहीं है। सम्भव है इसको भी पुराणों से प्रेरणा मिली हो। वाल्मीकि रामायण नामक विशद ग्रंथ [२४००० श्लोक] यद्यपि पुराणों के समकक्ष है, तथापि उसका कथानक पद्मपुराण आदि से मिलता है। रामायण से पुराणों ने कथानक लिया या पुराणों से रामायण ने यह कहना कठिन है किन्तु उनका अविच्छिन्न सम्बन्ध अवश्य है। इसके बाद भी अध्यात्म रामायण कृत्तिवास रामायण [बँगला], तुलसीदास कृत रामायण [हिन्दी], [रचनाकाल १५३२—१६२३ ई०] ज्ञान रामायण, आल्हा रामायण, आदि रचे गये, नि:संदेह इन सबको पुराणों से ही प्रेरणा मिली, तुलसीदास जी ने तो स्वयं कहा है—

'नाना पुराण निगमागम सम्मतं यत्'

जो आज दस करोड़ हिन्दी भाषियों का कण्ठहार बना है।

संस्कृत कथा साहित्य के मूर्धन्य स्रष्टा श्री कालिदास जिनका काल ५७ वर्ष ईसा पूर्व था। कुछ विद्वान उन्हें ईसा की चौथी शताब्दि में मानते हैं, (किन्तु मैं अपनी अन्य कृतियों में अपने मत को सिद्ध कर चुका हूँ)—पुराणों से प्रेरित हुए हैं। 'रघुवंश' 'कुमारसम्भव' का कथा साहित्य पौराणिक ही है, रघुवंश में राम चरित और कुमार सम्भव में कार्तिकेय के जन्म का वृत्तान्त है। नाट्य साहित्य में भी 'शकुन्तलोपाख्यान' महाभारत की कथावस्तु है 'विक्रमोर्वशीय' नाटक की कथावस्तु पुराणों में तो विद्यमान है ही—साथ ही वैदिक साहित्य में भी यह कथानक मिलता है। हमारे कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि कालिदास ने पुराणों के कथानक को ही प्रतिध्वनित किया है—वस्तुत: इनमें कवि की अपनी विशेषता, काव्यसौन्दर्य, चिरनवीनता विषय प्रतिपादन की योग्यता तथा शैली अपनी है, किन्तु कथा के विषय और पात्रों को चुनने में उन्हें पुराणों से प्रेरणा मिली है।

इसी प्रकार भारवि के 'किरातार्जुनीय' की कथा पाण्डवों और द्रौपदी के चरित्र को लेकर है, दार्शनिक कवि श्री हर्ष के 'नैषध चरित्र' की कथावस्तु नल दमयन्ती को लेकर है, जिसका कथानक पुराणों और महाभारत में है। तथा भवभूति विरचित 'उत्तर रामचरित' की कथावस्तु राम के चरित्र से है, यह कथानक रामायण की अपेक्षा पद्मपुराण से अधिक मिलता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि लेखकों और कवियों को पुराण सदैव प्रेरणा देते आये हैं।

साहित्य के समान ही ललित कला के क्षेत्र में भी पुराणों से ही प्रेरणा मिली है, अपनी साहित्य-समालोचना नामक पुस्तक में डा० रामकुमार वर्मा ने पाश्चात्य विद्वान श्री ई० पी० हारविज रचित 'दि इण्डियन थियेटर' के कुछ अंश दिये हैं. जिसमें लेखक ने अपने गहरे अध्ययन के आधार पर लिखा है—

"एक बार सभी देवता मिलकर ब्रह्मा के पास गये, और उन्होंने उनसे अपने मनोरंजन की सामग्री माँगी। ब्रह्मा ने ऋक् से नृत्य, साम से गान, यजु: से अभिनय और अथर्व से भाव लेकर एक नाट्यवेद की रचना की। सर्वप्रथम विश्वकर्मा ने इन्द्र भवन में विशाल रंगमंच का निर्माण किया, उस मंच के ऊपर प्रथम बार इन्द्र ध्वज पर्व (इन्द्र ध्वज नामक एक पर्व पहले मनाया जाता था, शासन की स्थिरता के हेतु प्रत्येक शासक इसे मनाता था—वराहमिहिर के संस्कृत काव्य से पता चलता है कि ५७ वर्ष ई० पू० तक यह पर्व भारत में प्रचलित था) के अवसर पर "अमृत-मन्थन" और "त्रिपुर-दहन" नाटकों का अभिनय किया गया। इस नाटक में अपने पुत्रों और शिष्यों के साथ भरत-मुनि तथा गन्धर्व-अप्सराओं ने अभिनय किया। पृथ्वी पर सर्वप्रथम राजा नहुष ने रंगमंच की स्थापना की, और अभिनय कराने के लिए उन्होंने स्वर्गीय देवांगनाओं, अप्सराओं और गन्धर्वों को पृथ्वी पर आने के लिए बाध्य किया था।"

आधुनिक इतिहासज्ञों के अनुसार श्री भरत मुनि ने ईसा से पूर्व दूसरी शताब्दि में नाट्य-शास्त्र की रचना की थी। किन्तु ईसा से पूर्व चौथी शताब्दि में पाणिनि ने नटों एवं नाट्यसूत्रों का उल्लेख किया है, एतदर्थ श्री हारविज का कथन ही युक्तिसंगत सिद्ध होता है। नट और नाटक दोनों प्राकृत के शब्द हैं। संस्कृत के 'नृत' धातु से यह बने हैं। नृत्य में आवश्यक हाव-भाव एवं अभिनय के नाम पर नाटक नाम पड़ा।

वेदों में भी नाटक के कुछ संक्षिप्त रूप पाये जाते हैं। वेदों के जिन सूक्तों में सम्वाद-वार्तायें हैं उन्हें नाटक का ही स्वरूप माना जायगा, और ब्राह्मण ग्रंथों में इससे अधिक शुद्ध स्वरूप है उदाहरण के हेतु ऐतरेय ब्राह्मण (३३ अध्याय) में शुन-शेप की कथा। यहाँ भी जो पात्र हैं—राजा हरिश्चन्द्र, रोहित, इन्द्र, नारद और शुन-शेप आदि—यह पुराणों से बाह्य नहीं हैं। वास्तव में नाट्य साहित्य का उदय भी धार्मिक भावनाओं से हुआ, उसी से नाट्य साहित्य को शक्ति मिली। जिस प्रकार कथा साहित्य के द्वारा सांस्कृतिक प्रचार किया गया, उसी प्रकार आदर्श महापुरुषों के चरित्र को नाटक रूप में

अभिनीत किया गया, ताकि लोग उससे प्रेरणा लें क्योंकि ज्ञानवृद्धि के चार उपाय हैं—लिखना, अध्ययन, देखना और सुनना। इसमें तीसरे व चौथे साधन की पूर्ति नाटक करते हैं।

यहाँ पर हम यह कहना चाहते हैं कि नाट्य साहित्य को भी पुराणों से प्रेरणा मिली है; इन्द्र भवन के खेले गये सर्वप्रथम नाटक अमृत-मन्थन तथा त्रिपुर-दहन, ब्राह्मणग्रंथोक्त शुन-शेप की कथा, कालिदास के शाकुन्तल और विक्रमोर्वशीय, भवभूति का 'उत्तर रामचरित' और नारायण भट्ट का वेणी संहार जैसे प्रमुख संस्कृत नाटकों से लेकर अनेक हिन्दी नाटकों तक की कथावस्तु पुराणों पर आधारित है, और इनके पात्र पुराणोक्त हैं। नाटक की इस परम्परा ने ही भारतीयों के हृदय में धर्म और नाटक का ऐसा एकीकरण कर दिया है कि सारी जनता के हृदय में नाटकों में धर्मतत्व देखने की उत्कंठा सी उत्पन्न हो गई है। क्योंकि भारतीय नाटक का जन्म धर्म की गोद में हुआ था।

पुराणों के ही माध्यम से इसी संसार में परमार्थिक भावनाओं की समृद्धि का निर्माण हुआ। देश के प्रत्येक जनपद, अरण्य, नदी, नद, पर्वतों में तीर्थ क्षेत्र की महिमा का वर्णन कर मानव को कूपमण्डूक बनने से उबारा, ताकि वह विश्व में धर्म, जग को देखे। ज्ञान की वृद्धि तथा देश के विभिन्न वर्गों में परस्पर परिचय और संगठन की दृष्टि से भी यह आवश्यक था। मूर्ति-निर्माण और मन्दिर निर्माण जैसे कार्यों में मूर्ति कला, स्थापत्यकला, वास्तुकला को जन्म दिया। आरम्भ में मूर्ति-निर्माण देवताओं के काल्पनिक रूप को स्पष्ट करने के रूप में होता था—जो धर्म का एक अँग था—और आज वह उन्नत कला के रूप में विद्यमान है। धर्म और मूर्तिकला का सम्बन्ध कोणार्क आदि के मन्दिरों से स्पष्ट हो जाता है। भजन, कीर्तन, नृत्य तथा जागरण के रूप में नृत्य, वाद्य तथा गान कला में भी वृद्धि हुई। पुराणों में प्राय: प्रत्येक पर्व पर रात्रि में जागरण कर नृत्य गीतादि से रात्रि बिताने को कहा गया है।

'नृत्य गीतादि नि:स्वनैः'
'नृत्य गीतादिकं चरेत्' इत्यादि।

इससे सिद्ध होता है कि ललित कलाओं को भी पुराणों से प्रेरणा मिली तथा पुराणों के माध्यम से उनका उत्तरोत्तर विकास हुआ।

दार्शनिक क्षेत्र में भी पुराणों का गहरा प्रभाव है। उपनिषद एवं वेदान्त के दार्शनिक कठिन विषयों को—जो सामान्य बुद्धि की समझ से परे था—पुराणों

ने सुलभ कथानकों के रूप में प्रस्तुत किया। प्रायः प्रत्येक पुराण में कुछ न कुछ दार्शनिक साहित्य अवश्य विद्यमान है। पुराणों और महाभारत से ही भगवद्गीता जैसे महान ग्रंथ की उत्पत्ति हुई है—जो सम्पूर्ण उपनिषदों का सार है, जिसमें गागर में सागर भरने का प्रयत्न किया गया है।

पुराणों के इसी दार्शनिक साहित्य ने आगे चलकर समाज को दार्शनिक प्रेरणा दी। भक्तिकाल के सन्तों ने अवश्य ही पुराणों से प्रेरणा ली है, सन्त कबीर, रैदास, नानक, दादूदयाल, सुन्दर, मलूकदास, जायसी, गोस्वामी तुलसीदास, रहीम, नन्ददास आदि ने जिस संकीर्ण सामाजिक आचार धर्म को हीन मानकर भागवत धर्म का प्रतिपादन किया—

साधो एक रूप सब माँही।
अपने मन विचार कै देखो, कोई दूसरा नाहीं।

\+ + + +

'नव द्वारे को पिंजरा'

\+ + + +

मैं समुझ्यौ निरधार यह जग काँचो काँच सो।
एकै रूप अपार प्रतिविम्बित लखियत यहाँ॥

\+ + + +

'सिया राम मय सब जग जानी'

\+ + + +

जाँति पाँति पूछे नहिं कोई।
जो हरि को भजे सो हरि का होई॥

इत्यादि दार्शनिक विषयों का प्रतिपादन पुराणों पर आधारित है। महाभारत में खटिक द्वारा ऋषि को धर्मोपदेश, तुलाधार वैश्य द्वारा ऋषि को धर्मोपदेश, तथा राजा रन्ति देव द्वारा ४८ दिन के उपवार के बाद अन्न प्राप्त होने पर उसे भी बाँट देना और जल को एक प्यासे चाण्डाल को पिलाकर स्वयं भूखा-प्यासा रहकर यह कहकर प्रसन्न होना कि—

'मुझे मोक्ष अथवा अष्टधासिद्धि, अच्छी गति या पुनर्जन्म के प्रति कुछ भी कामना नहीं है। मैं केवल इतना चाहता हूँ कि तनुधारियों के अन्तःकरण में प्रवेश पाकर मैं उनके दुःख को दूर कर सकूँ जिससे उनका दुःख दूर हो सके।'

इत्यादि पौराणिक उपाख्यान दार्शनिक भाव के ही प्रतिपादक हैं, इस क्षेत्र में भागवत का विशिष्ट स्थान है।

आर्य-संस्कृति की रक्षा में पुराणों की भूमिका

ईसा से पूर्व १०० वर्ष से लेकर ७०० वर्ष पूर्व तक जिस काल में पुराणों का पुनर्निर्माण, संशोधन, परिवर्तन और परिवर्द्धन हुआ वास्तव में वह इस प्रकार का समय था जब कि वैदिक धर्म के प्रति लोगों में आस्था नहीं रह गई थी। उक्त समय में वैदिक धर्म का स्वरूप भी विकृत हो चुका था, आध्यात्मिक, भौतिक तथा चारित्रिक उन्नति यज्ञों का उद्देश्य नहीं रह गया था, अपितु अपने स्वार्थ के लिए शास्त्र-विधि के विपरीत यज्ञ होते थे और हिंसा का नग्न नृत्य हो रहा था। साथ ही स्वार्थी तत्वों के कारण मानव जीवन भी सुखमय नहीं था। अनेक प्रकार की आधि-व्याधियां जीविका के साधनों का अभाव था—अज्ञान और पाप के कारण जन-जीवन दुःख से आवृत था। वास्तव में दुःख एक वरदान है। दुःख से मानव भ्रष्ट भी होता है और सुधरता भी है। सुख में पले व्यक्ति को जब दुःख मिलता है तब उसे बाह्य-स्थिति का ज्ञान होता है—मोहान्धकार हटता है, संसार के वास्तविक जीवन का सत्य-सत्य अनुभव होता है, और तभी मनुष्य परमार्थ के प्रति भी सोचता है।

इसी प्रकार जीवन का सत्य दर्शन उक्त समय में राज परिवार में पले एक युवराज शुद्धोधन को हुआ, और यह जीवन दर्शन वैदिक धर्म के पाखण्डी स्वरूप का एक प्रबल विरोध था। बौद्ध धर्म के रूप में एक नया आन्दोलन चला जिसका उद्देश्य दुःख के कारणों का ज्ञान और उसका परिहार था। वास्तव में यह उस समय की परमावश्यकता थी यही तो मानव-मात्र का प्रश्न था, आखिर दुःख क्यों होता है? दुःखी मानव सर्वप्रथम दुःखों से छुटकारा चाहता है, स्वर्ग भोग तो बाद की बातें है। जहाँ मानव सुखी नहीं है, पेट भरने को अन्न नहीं, पीने को जल नहीं, रहने को घर नहीं, और तन ढकने को वस्त्र नहीं--सर्वत्र निराशा, वहाँ मानव उस स्वर्ग के कल्पित सुख-भोगों को क्या चाहेगा? प्रातः भोजन तो मिल गया, किन्तु रात्रि का क्या होगा? जब यही समस्या हल नहीं होती, तो वह मरने के उपरान्त यज्ञों के प्रसाद स्वरूप मिलने वाले उन स्वर्गीय भोगों की क्या आशा करे! वह यह कैसे मान ले कि जब इस जन्म में सुख की कोई आशा नहीं, अगले जन्म में उसे सुख मिलेगा?

भूतकाल तो बीत चुका है, उससे कोई प्रयोजन नहीं, और भविष्य जब आयेगा तब देखा जायेगा, वास्तविक प्रश्न वर्तमान का उठता है, दुख क्यों होता है ? क्या इस दु:खमय जीवन से उत्थान सम्भव नहीं है ? यह मानव मन का सदैव का प्रश्न है। जब बौद्ध धर्म चला तो उसका मुख्य नारा था— दु:ख के कारणों का ज्ञान और परिहार का उपाय' बुद्ध को जो 'बोध' (ज्ञान) हुआ वह यही था कि दु:ख क्यों होता है, और उनसे कैसे छुटकारा मिल सकता है ? इस तत्व का ज्ञान। यह तत्कालीन जनता के लिए जिन खोजा तिन पाइयाँ' था— एतदर्थ मानव जाति का बौद्ध धर्म के प्रति आकृष्ट होना स्वाभाविक ही था; क्योंकि यहाँ पर बौद्ध धर्म का विषय नहीं है, एतदर्थ बौद्ध धर्म की सफलताओं और असफलताओं पर प्रकाश हम नहीं डालेंगे—हमारा तात्पर्य केवल यह स्पष्ट करने का है कि उक्त समय में बौद्ध-शिविर के प्रति लोगों में आकर्षण हो रहा था।

वास्तव में वह समय धार्मिक क्षेत्र में संक्रमण काल था इसका एक कारण और भी रहा। वेदकालीन धर्म अत्यन्त कठिन था एक तरफ यज्ञीय उपासना थी, और दूसरी तरफ आध्यात्मिक चिंतन। प्रतिदिन पंचयज्ञ, सन्ध्या स्वाध्याय, तर्पण, होम जप और देव-पूजन की अनिवार्यता आदि विषम कर्तव्य थे। चार आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ वानप्रस्थ, सन्यास) में जीवनयापन और भी कठिन था। वैदिक धर्म की दुरूहता के कारण मानवों के मन में इस प्रकार की भावनाओं का उदय हुआ कि इन सब झंझटों को छोड़कर कोई एक सरल मार्ग निकाला जाय। यह प्रवृत्ति केवल भारत में ही नहीं हुई अपितु सारे विश्व में हुई—जिसके आधार पर बौद्ध, ईसाई और इस्लाम आदि अनेक नये धर्मों का जन्म हुआ। अस्तु।

उक्त संक्रमण काल में हमारे पुराणकारों ने वैदिक धर्म को नया स्वरूप देकर उसे पूर्णत: नष्ट होने से जिस प्रकार बचा लिया उसके हेतु मानव जाति चिर ऋणी रहेगी। भारतीय संस्कृति में पुराणों का अपना विशिष्ट महत्व है। भारतीय जन-जीवन में वैदिक परम्परा को जीवित रखने, वेद-विरोधी बौद्ध धर्म के प्रचार से वेदानुगामी जनता को बचाये रखने का श्रेय पुराणों को है। मैं नि:संदेह यह कह सकता हूँ कि यदि पुराणों का पुन: संकलन नहीं किया जाता तो बौद्ध धर्म के विश्वव्यापी आंदोलन के सामने वैदिक धर्म परम्परा का अस्तित्व रहना असम्भव था, एतदर्थ पुराणों को वैदिक संस्कृति का 'जीवन' कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी।

पुराणों के महत्व को अनेक दृष्टियों से आंका जा सकता है। पुराणों ने वेद-विहित धर्म को ही ज्ञानगम्य सरल भाषा में जन-समूह के सामने रखा है, और उसे इस प्रकार के कथानकों में लिखा है जिससे स्वभावत: रुचि हो, और धर्म के प्रचार के साथ ही प्रसार भी हो जाय। प्राचीन काल में वैदिक ग्रंथों के अध्ययन और श्रवण आदि का अधिकार कर्मणा द्विजातियों को था—किन्तु पुराणों के इस सम्वर्धन काल में वैदिक धर्म विकृत हो चुका था, जिससे जाति-व्यवस्था जन्मना कल्पित कर ली गई थी, और वैदिक धर्मानुयायी वह बहुसख्यक दल चतुर्थ वर्ण शूद्रादि को अति हीन अवस्था में देखा जाता था, धर्म के क्षेत्र से इस वर्ण को वहिष्कृत कर दिया गया था—अर्थात् वैदिक मंत्रों का पाठ करने, उन्हें सुनने तथा उसके तत्व को समझने का अधिकार उन्हें नहीं था। यहाँ तक कि यदि कोई शूद्र वेद मंत्रों को सुन ले, उसके कानों के छेदों को रांगे से वँद कर दिया जाता था— अवश्य ही यह ऐसी अवस्था थी कि तथाकथित शूद्रवर्ण वैदिक धर्म का त्याग कर बौद्ध शिविर में स्वागत भाव से प्रवेश पा जाता। वास्तव में जिस व्यक्ति को अपने धर्म सम्बन्धी तत्व जानने या सुनने का अधिकार न हो, और कदाचित् प्रमाद से सुन लेने पर गरम रांगे से उसके कान भर दिये जायँ उस धर्म के प्रति क्या आस्था हो सकती है? जबकि दूसरे पक्ष से प्रेम पूर्वक आवाहन हो रहा हो (विनय पिटक—चु.ख. ११-१-४ आदि में इसके प्रमाण हैं)। पुराणकारों ने इस समस्या का भी समाधान निकाला और अपने पुराणों को मनुष्य मात्र के प्रति सुलभ किया। वे शूद्र जो कि धर्म रूपी गंगा को तृष्णा-पूर्वक देखते थे, किन्तु उसके जल का पान और उसमें स्नान नहीं कर सकते थे, पुराणकारों से उसे सबके हेतु सुलभ कर दिया। वास्तव में सभी मानवों को समानाधिकार देने, वर्ण तथा जाति व्यवस्था की संकीर्णता को हटाने में महत्व-पूर्ण योगदान दिया है। पुराणों का साहित्य किसी जाति विशेष, धर्मविशेष, वर्ण विशेष की संकीर्णता में बंधा नहीं है। ब्राह्मणों से लेकर शूद्रों तक, शूद्रों से परे नीच अन्त्यजों तक, वैदिक धर्म से बाह्य म्लेच्छादि विधर्मियों तक वे चाहे स्त्री हों अथवा पुरुष—सबका उनके प्रति समानाधिकार है—उनमें सबको पावन करने की शक्ति है।

विप्राद्द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ,
पादारविन्द विमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम् ।
मन्ये तदर्पित मनोवचने हितार्थं,
प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरि मान: ।।
(भागवत महापुराण ७।९।१०)

भारत में आज जो संस्कृति विद्यमान है वह पुराणों के सम्वर्धनकाल से अब तक गत दो हजार से अधिक वर्षों से पुराणों पर ही आधारित है। पुराणों ने सभी वर्गों और सभी अवस्थाओं के व्यक्तियों में धार्मिक श्रद्धा उत्पन्न की, और मनोरंजक कथा-साहित्य के द्वारा उदात्त भावनाओं की शिक्षा दी। और विभिन्न उत्सवों, उपवासों के माध्यम से सांस्कृतिक चेतना को जन्म दिया।

मूल रूप में वैदिक धर्म की दो धारायें थीं—यज्ञकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। यह तो हम कह ही चुके हैं कि उक्त समय में हिंसा के कारण यज्ञीय उपासना तो समाप्त प्राय: थी, और बौद्ध धर्म हिंसा का प्रबल विरोधी था—जिससे यज्ञीय उपासना को जीवित रखना कदापि सम्भव नहीं था। किन्तु साथ ही ज्ञानकाण्ड भी समयानुकूल नहीं था, क्योंकि ईश्वर क्या है ? जीव क्या है ? आत्मा क्या है ? मृत्यु क्या है ? इत्यादि दार्शनिक विषय तो उस समय विचारने के हैं, जब राष्ट्र समृद्ध हो, और मानव को जीवनोपयोगी वस्तुएँ आसानी से सुलभ हो जायें, जैसा कि वेदों के अनुवादक पाश्चात्य विद्वान मैक्समूलर ने कहा है—'अभाव के समय में जबकि मनुष्य के सामने मकान, कपड़ा, रोटी का प्रश्नवाचक ? चिन्ह सामने रहता है, दार्शनिक विचार सम्भव नहीं हैं।' यही समस्या उक्त समय में थी। उस समय में ज्ञानकाण्ड के प्रति भी जनता में कैसी अरुचि थी, इसका आभास बौद्ध साहित्य से भी चलता है। मज्झिम निकाय, व. ७२ में गौतम बुद्ध ने कहा है—'मैं विश्व तथा आत्मा के सम्बन्ध में चलने वाले तत्व चर्चा की उपेक्षा ही करता हूँ, क्योंकि यह विचार जटिल समस्याओं का जन्मदाता, एक अरण्य ही है, बुद्धि का बन्धन, भ्रमोत्पादक तथा दु:ख, निराशा, सन्तापदायक है।' इसी प्रकार मज्झिम निकाय सुत्त ६३ में स्पष्ट कहा है कि 'मैं दार्शनिक विषयों पर कुछ नहीं कहूँगा, मनुष्य को आत्मा या परलोक अथवा ईश्वर सम्बन्धी दार्शनिक विषयों पर नहीं पूछना चाहिए, हमें वर्तमान स्थिति पर देखना होगा—जिससे दु:ख का विनाश हो सके।'

इन तथ्यों से यह स्पष्ट है कि उक्त समय में एक इस प्रकार के मध्यम मार्ग की आवश्यकता थी जिससे सांस्कृतिक चेतना हो, समाज में उसके प्रति आस्था हो, और जन साधारण को उसके प्रति यह विश्वास हो कि अवश्य ही यह हमारे दु:खों को दूर करने में समर्थ है। पुराणकारों ने यह मार्ग भी चुना, कथाओं के माध्यम से जन-साधारण में यह विश्वास दिलाया गया कि भगवान सम्पूर्ण दु:खों को हरने वाले हैं, और भगवान अपने भक्तों का दु:ख किस प्रकार हरते हैं—भक्तों के हेतु कैसे वैकुण्ठ छोड़कर दौड़ पड़ते हैं, एक

ग्राह से ग्रथित हाथी को छुड़ाने कैसे गये। इस प्रकार लाखों-करोड़ों उपाख्यान पुराणों में विद्यमान हैं। यह एक सत्य है कि किसी कथा को सत्य या दार्शनिक रूप में कहा जाय तो मध्यम शिक्षित व्यक्ति उस कथाकार को 'पागल' की ही उपाधि देगा, क्योंकि अपठित व्यक्ति वास्तविकता की गहराइयों को नहीं नापता है, उसे केवल कथानक जँच जाय—यह काफी है, भले ही उसको जितना बढ़ा-चढ़ा कर कहें, उसको इससे प्रयोजन नहीं—एतदर्थ पौराणिक कथाओं में अत्युक्ति भी है। ग्राह के द्वारा ग्रस्त गज ने ईश्वर स्मरण किया, और उसे इस प्रकार की आत्मशक्ति मिली जिससे वह ग्राह के पंजे से छूट गया। कहानी के इस सामान्य रूप को अपठित जन-साधारण को आकर्षित करने की शक्ति कम है, जब कि कल्पना के पुट में कथानक की वृद्धि कर गज की पुकार पर वैकुंठ से भगवान् का दौड़ पड़ना जनसाधारण के हेतु रुचिकर हो गया है।

इसके बाद प्रश्न यह उठता है कि उस ईश्वर को प्रसन्न करने के उपाय क्या हैं जिससे वह प्रसन्न हो. और मानव के दुःखों को दूर करे। जहाँ तक ईश्वर को प्रसन्न करने का प्रश्न है, उसके प्रति पुराणों ने कोई नये मत का प्रतिपादन नहीं किया अपितु वैदिक धर्म में वर्णित अहिंसा, सत्य का पालन, दया, शौच. दान, चोरी का त्याग आदि जो मानवीय गुण हैं उन्हीं का प्रतिपादन किया। पुराण ही क्या विश्व में प्रचलित जितने भी धर्म हैं इस विषय पर सभी एक मत हैं. किन्तु इन मानवीय गुणों को जीवन में घटित करने की प्रणालियाँ भिन्न-भिन्न हैं। इसी प्रकार पुराणों ने इन मानवीय गुणों को अपने जीवन में सार्थक करने के हेतु नई प्रणालियों को जन्म दिया, और वही आज हमारे बीच पर्व तथा उत्सवों के रूप में विद्यमान हैं।

सत्य का पालन एक महान मानवीय गुण है। सत्य की उत्पत्ति वैदिक 'ऋत' शब्द से है जो नीति का परिचायक है किन्तु सदा सत्य बोलो, सत्य का पालन करो, इससे ईश्वर प्रसन्न होगा' इतना कह देना उस समय काफी न था, जबकि यही मूल मंत्र है। एतदर्थं इसमें कथानक जोड़ा गया, जिसमें उन लोगों का उदाहरण दिया गया जिन्होंने सत्य का पालन किया था और उनसे प्रसन्न होकर ईश्वर ने उन्हें दु.खों से छुटकारा दिलाया था। वैदिक साहित्य में जो सत्य आत्मसात् करने का विषय था—यहाँ पर उसके ग्रहण हेतु एक सांस्कृतिक पर्व का आयोजन किया गया जिसमें अपने मित्रों, बान्धवों के साथ उपस्थित होकर सत्य के सम्बन्ध में इस कथानक को सुनना होता था। तथा

'सत्य' को ही ईश्वर का प्रतीक मानकर उसका पूजन कर इस समारोह के अवसर पर सत्य का पालन करने की प्रतिज्ञा होती थी। इस तरह सत्य के नाम पर सत्यनारायण का पूजन तथा कथा का आविर्भाव हुआ। सत्य को इस प्रकार नया रूप देने में कई एक हित थे, जहाँ सत्य को चुपचाप आत्मसात् करने में कोई सांस्कृतिक चेतना नहीं होती वहाँ एक समारोह का आयोजन कर दिया गया, तथा इस अवसर पर सार्वजनिक क्षेत्र में सत्य पालन की प्रतिज्ञा करना उस प्रतिज्ञा के पालन में भी सहायक होगा। समाज के बीच जो प्रतिज्ञा की जाती है, उसका पालन करना ही पड़ता है; अन्यथा चुपचाप की प्रतिज्ञा किसी कठिन परिस्थिति के समय भंग भी हो सकती है। एक समारोह का आयोजन कर उसमें सत्य पालन की प्रतिज्ञा करने से सत्य का प्रचार होगा, और अन्य लोगों को भी इससे प्रेरणा मिलेगी। इसी प्रकार सत्य सम्बन्धी कथानक सुनने से भी सत्य के प्रति लोगों में श्रद्धा उत्पन्न होगी —कथानक को सुनने में भी लोगों की रुचि रहे इस उद्देश्य से पुराणकारों ने कथानक को सुनना भी पुण्य घोषित किया है और कथानक को सुनने, कहने में समान पुण्य कहा है ताकि कथानक सुनाने में भी लोगों की रुचि रहे। इस प्रकार पुराण का विषय एकार्थक नहीं, अपितु अनेकार्थक है।

जिस प्रकार पुराणों ने द्विजेतर जातियों को धर्मशास्त्र सुनने और अध्ययन करने का अधिकार दिलाया, उसी प्रकार समाज में भी उन्हें स्थान दिलाने की प्रयत्न किया है। होली जैसे पर्व के अवसर पर द्विजातियों और अन्य जातियों में समानता तथा एकता का उदाहरण प्रस्तुत किया है। श्वपच एक सबसे निम्नश्रेणी की हीन जाति है, वर्तमान समय में जमादार आदि उसके प्रतिरूप हैं। यद्यपि यह जाति कर्मणा है. एतदर्थ द्विजाति आदि का इससे सदैव वह सम्बन्ध नहीं हो सकते —जैसे कि औरों के प्रति—यहाँ तक कि अद्यावधि कुछ लोग इनके स्पर्श हो जाने से स्नान अनिवार्य मानते हैं। किन्तु होली के रूप में एक इस प्रकार का पर्व आयोजित किया है जहाँ वर्ण-व्यवस्था के कोई बंधन नहीं रह जाते, चाहे कितना ही उच्च कुलीन ब्राह्मण क्यों न हो, उसके लिए भी उस दिन श्वपच का आलिंगन करना अनिवार्य है; और जब तक वह इस क्रिया को नहीं करता है तब तक अपवित्र ही माना जायगा। कैसी एकात्मता है—जिस श्वपच के स्पर्शमात्र से मानव तन अपवित्र हो जाता था, आज उसी श्वपच का स्पर्श परम पवित्र ब्राह्मण को भी पवित्र करने की सामर्थ्य रखता है। वास्तव में होली एक पावन पर्व है। जिस दिन हमें अपने अन्य सहायक

वर्णों को अपनाने, उन्हें आत्मसात् करने की प्रेरणा मिलती है, आखिर वे भी हमारे ही अंग हैं, उन्हें कैसे त्याग सकते हैं ? और उन्हें भी सन्तोष होता है कि हम उन्हें अपना ही अंग मानते हैं और जातीयता से उत्पन्न तनाव दूर हो जाता है। यद्यपि होली पर्व केवल जातीयता पर ही आधारित नहीं है, वह अनेक विषयों का प्रतीक पर्व है किन्तु यहाँ हम उसके केवल एक अंग का ही उल्लेख कर रहे हैं।

इसी प्रकार अन्य भी जितने हमारे पर्व और उत्सव हैं, उन सब में उदात्त भावनाएं निहित हैं। आत्मशक्ति, संगठनशक्ति और बुद्धि के सहारे सभी आपदाओं, दुःखों पर विजय मिलती है, यह विश्वास लेकर शक्ति-उपासना की परम्परा चली। यहां भी 'शक्ति से काम लो, संगठन करो, धैर्य और बुद्धि से काम लो' यह उपदेश प्रभावशाली न था, और शक्ति की प्रतीक मूर्ति का निर्माण हुआ। आत्मविश्वास—संगठनात्मक शक्ति और बुद्धि के द्वारा किस प्रकार देवों ने दानवों पर विजय प्राप्त की—कथानक का निर्माण हुआ, और सामूहिक रूप से अथवा व्यक्तिगत रूप से शक्ति की प्रतीक मूर्ति के सामने शक्ति का माहात्म्य पठन तथा श्रवण करने की परम्परा चली, जिससे लोगों को संगठन के प्रति, आत्मविश्वास के प्रति प्रेरणा मिली। इसी प्रकार पारिवारिक जीवन के प्रति भी सदाचार-युक्त प्रेरणादायक कथानकों की सृष्टि हुई। पतिव्रताओं की कथाएँ, राम तथा कृष्ण जैसे महापुरुषों का जीवन-चरित्र पारिवारिक जीवन की प्रतीकात्मक हैं। गृह-कलह जैसी पारिवारिक बुराइयों से लोभी मानव प्रवृत्ति को सजग कराने के उद्देश्य से महाभारत जैसे कथानकों का संकलन किया गया। मानवीय उदात्त गुणों के पालन से मनुष्य ही मानव से ईश्वर (राम, कृष्ण आदि) बन जाता है, और मानव ही दानव दानवीय अनैतिक कर्मों का आश्रय लेने पर मानव से दानव (रावण ब्राह्मण वंश में जन्मा था, वह ब्राह्मण एवं कर्मकाण्डी के रूप में रामेश्वरम् की स्थापना में स्वयं राम का पुरोहित भी रहा) बन जाता है।

पुराणों की इन विशेषताओं के कारण ही आर्य-संस्कृति विश्वव्यापी बौद्ध-धर्म एवं इस्लाम-धर्म के बीच भी सुरक्षित बची रह गई। निःसंदेह वैदिक संस्कृति की परम्परा को स्थायी एवं जीवित रखने का श्रेय पुराणों को है—इससे पुराणों का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है।

पुराणों की उपासना पद्धति और मूर्ति तथा लिंग पूजा

यद्यपि पुराणों में आध्यात्मिक दर्शन का स्वरूप मिलता है किन्तु वास्तव में पुराणों की उपासना पद्धति मूर्ति पूजा को लेकर है। वहाँ केवल देवों की ही मूर्ति पूजा नहीं होती अपितु प्रत्येक सद्गुण की प्रतीक मूर्ति के भी पूजन का विधान है—जैसा सत्य के प्रतीक "सत्यनारायण" की प्रतिमा। किन्तु इसके मूलभूत आधार क्या हैं इस बात का निर्णय करने में बहुत से विद्वान अपने को असमर्थ पाते हैं। कुछ लोगों का विचार है कि वेदों से ही यह परम्परा प्रचलित थी—इसी में सम्वर्धन किया गया। और कुछ विषय के कच्चे लोग यह सोचते हैं कि वैदिकों ने यह परम्परा अवैदिकों से ग्रहण की। किन्तु यहाँ पर यह सोचने का विषय है कि अवैदिक कौन थे। यह सिद्ध हो चुका है कि इस समय उपलब्धि में वेदों से पुराने किसी भी संस्कृति के अवशेष नहीं मिलते और वेदों के समय में ही एक अवैदिक सभ्यता भी थी यह कहना मिथ्या होगा—इतना कहा जा सकता है कि वैदिक संस्कृति में उग्र और सौम्य दो पंथ थे—तदनुसार वैदिक देवता शिव के 'उग्र' 'भीम' 'यज्ञ विध्वंसक' 'कपर्दी' (जटाधारी !) आदि रूपों को लेकर शिवोपासकों को अवैदिक की उपाधि देना भी तर्क-संगत नहीं है, क्योंकि शिव का वैदिक साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान है। एतदर्थ वे वैदिक देवता ही हैं—अवैदिक नहीं, और देवता के गुण भेद से उसे अवैदिक नहीं ठहराया जा सकता, क्योंकि सम्पूर्ण धर्मों का मूल वेद ही है, उसमें इस्लाम और हिन्दू धर्म जैसी परस्पर विरोधी संस्कृतियों का भी समावेश है अतः स्वरूप-भेद होने से भी उसे वैदिक ही माना जायगा।

मानव के सुन्दर मुखमण्डल को देखकर क्या आप यह कह देंगे कि इसके मलाशय में मल हो ही नहीं सकता, वह नितान्त आवश्यकीय है और अवश्य होगा। यह मानव का एक अंग है—सभी अंगों के गुण-रूप में कभी समानता नहीं होती—उसमें अच्छे और बुरे सभी गुणों की आवश्यकता है—सभी ठीक से संचालन हो सकेगा। इसी प्रकार सृष्टि के सृजन हेतु जहाँ ब्रह्मा की सौम्य

प्रकृति हमारे सम्मुख आती है यदि वही रूप अकेला रहे तो सृष्टि होती रहे; आखिर कहाँ तक ? सृजन के साथ विनाश भी उसका अनिवार्य अंग है, और सृजनात्मक उस सौम्य रूप से विनाश होना भी असम्भव है, जिसकी प्रवृत्ति हमेशा सृजन की रही है वह विनाश कैसे करेगा ? स्पष्ट है कि विनाश के हेतु उसे रूप बदलना होगा—जरूर बदलना होगा, और यह विनाशकारी रूप कदापि सौम्य नहीं होगा। अर्वाचीन काल में भी हमारे देश में शिव को अवैदिक मानने वाले तत्व विद्यमान थे --जिसके आधार पर (उत्तरी भारत और दक्षिणी भारत) शैव तथा वैष्णवों की वैमनस्यता इतिहास को विदित है और पाश्चात्य मतावलम्बी कुछ लोग आज भी इसी अंधकार में हैं।

इसी प्रकार मूर्तिपूजा भी वेदों से प्रचलित है, पौराणिक नहीं। मूर्तिपूजा का दार्शनिक मूल है भगवान की सशरीरता की भावना और यह भावना वेदों में सर्वत्र मिलती है, अथर्ववेद के २।१२।४ सूत्र में पाषाण की प्रतिमा में स्थित होने के हेतु ईश्वर से विनय है—

'एह्यमश्मानमातिष्ठाश्मा भवतु ते तनूः'

अर्थात् हे भगवान ! आओ, इस पाषाण की मूर्ति में प्रवेश होओ, यह पाषाण ही तुम्हारी देह बन जाये।

इसी प्रकार साम सं० प्रपाठक में मूर्तियों का उल्लेख आया है:—
'यदा देवयतानि कम्पन्ते' 'दैवताः प्रतिमाः हसन्ति, रुदन्ति, नृत्यन्ति, स्फुरुन्ति, खिधन्ति, उन्मीलन्ति, निमीलन्ति।'

भगवान की प्रतिमा के संस्कार के बारे में यजुर्वेद कहता है—पहले प्रतिमा को अग्नि में तपाकर उसका मल दूर करना चाहिये, फिर मूर्ति को धोकर साफ करनी चाहिये। इस प्रकार शुद्ध करके स्थापित प्रतिमा दीर्घायु देती है—

आजिघ्रगर्भं पयसा समङ्धि
सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपाम।
परिवृङ्धि हरसामाभिमगृस्थाः
शतायुषं कृणुहि चीयमानः।।

मनुस्मृति में देवताओं का पूजन पूर्वाह्न में करने और देवमन्दिरों को तोड़ने वाले को प्राणदण्ड देने का विधान कहा है—

'पूर्वाह्ले एव कुर्वीत देवतानां च पूजनं'

\+ + +

देवताअर्चनं चैव।

\+ + +

कोष्ठागारायुधागार देवतागार भेदकान् ।
हस्त्यश्वरथ हन्तृश्च हन्यादेवाविचारयन् ।।

इससे वेदों में मूर्तिपूजा सिद्ध हो जाती है इतना था कि तब यज्ञीय उपासना का काल था, एतदर्थ मूर्तिपूजा का प्रचलन कम था—किन्तु था अवश्य।

मूर्तिपूजा की प्राचीनता भूगर्भशास्त्र से भी सिद्ध होती है, केम्ब्रिज विश्व-विद्यालय में सूर्य विषयक एक व्याख्यान हुआ था उसका एक अंश यह है—

'गतवर्ष उत्तरी अमेरिका के ग्रीनलैण्ड नामक स्थान पर दफीना खोदना शुरू किया। खोदने पर दफीना (माणिक्य) तो नहीं मिला किन्तु एक देवमंदिर मिला। उसमें सूर्य की एक मूर्ति थी, जो चमकदार पत्थरों से बनी थी। सूर्य के सामने एक व्यक्ति हिन्दू आकृति में प्रणाम कर रहा था। --

—(ज्यो०वि०व० १ वं ६-७)

यह सूर्य-मन्दिर उस प्राचीनकाल में मूर्तिपूजा सिद्ध करता है, जब अतीत में हिन्दू संस्कृति अमरीका तक फैली थी। इसी तरह सिंध प्रांत की खुदाई में ध्यानस्थ शिव की मूर्ति और शिव का प्रतीक शिश्नाकार लिंग उपलब्ध हुए हैं।

मूर्ति पूजा के मूलभूत आधारों पर भी ध्यान देना वांछनीय होगा। ईश्वर के उपासना की दो परम्पराएं चिरन्तन हैं—एक निराकार कल्पना न तस्य प्रतिमा अस्ति' उसकी कोई मूर्ति नहीं है और दूसरी साकार कल्पना—जिसमें ईश्वर के आकार का वर्णन है—

'चत्वारिश्रृंगा त्रयो अस्यपादा
द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो त्रिधाबद्धो
वृषभोरोरवेति'

वेद में यहां पर अग्नि को ४ सींग वाला ३ पैर वाला, २ शिर का, ७ हाथ वाला, बैल के ऊपर बैठा माना है।

इसी प्रकार वैदिक साहित्य में सनातन परम देवता 'पुरुष' का स्वरूप वर्णित है—

'सहस्त्र शीर्षा पुरुष: सहस्राक्ष: सहस्रपात्'

यहाँ उसे हजार शिर, हजार आँख और हजार पैरों वाला कहा गया है। अथर्ववेद ५, १, २, २ में ईश्वर का अनेक रूप धारण कर अवतार लेना भी स्वीकार किया है—

आयो: धर्माणि प्रथम: ससाद,
ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणी ।

पहले हम कह चुके हैं कि मत्स्य, कूर्म, वामन, वाराहादि अवतारों के कथानक वेदों में हैं। इससे अवतारवाद की पुष्टि के साथ ही ईश्वर के स्वरूप की एक कल्पित मूर्ति भी बन जाती है।

ऋग्वेद के (१-३३-५।१० और १-३-५ वें) सूक्तों में तथा और भी अन्यान्य अनेक स्थलों पर शिव के स्वरूप का वर्णन भी मिलता है—'सुन्दर, नित्य युवक के समान, मनोहर ठोढ़ी और दृढ़ माँसपेशियों वाले, रक्त और गौरवर्ण के शिव कहे गये हैं।'

'नमोस्तु नीलग्रीवायासहस्राक्षाय'

—यजु: १६-८

यहाँ पर नीलकण्ठ वाले, हजार आँखों वाले शिव का उल्लेख है।

'याते रुद्र शिवातनूरघोरा पापकाशिनी'

यहाँ पर शिव की देह को कल्याणकारी, पापनाशक और स्वच्छ बतलाया है। तात्पर्य यह है कि वेदों में साकार देहमय ईश्वर की कल्पना यत्र-तत्र है। साकार उपासना सांसारिक सुखदायक मानी गई है, भले ही सांसारिक सुख क्षणिक हों दुख के मूल हों—किन्तु संसार में रहकर विशेषत: गृहस्थाश्रम में जीवन निर्वाह के लिए वे आवश्यक हैं। भौतिक समृद्धि के बिना जीवन निर्वाह होना असम्भव है एतदर्थं साकार उपासना भी अनिवार्य है, और निराकार उपासना वेदान्त मत-प्रतिपादक है। वह आध्यात्मिक विषय है, उससे पारलौकिक सिद्धि (मोक्ष) मिलती है। यही कारण है कि वेदों में जब चार आश्रमों की व्यवस्था थी, तब यज्ञ पूजन गृहस्थाश्रम का कर्म था, और वानप्रस्थ तथा संन्यास में केवल आत्म-चिन्तन।

यहाँ पर यह ध्यान देना आवश्यक है कि मूर्ति देवता के स्वरूप की एक प्रतीक मात्र है, और प्रतीक के रूप में उसमें देवता का आवाहन कर भावनात्मक दृष्टिकोण से उसकी पूजा होती है न कि यह पत्थर ही ईश्वर है—इस भाव से। पाषाण या धातुनिर्मित अथवा पट पर चित्रित ईश्वर के प्रतीकात्मक रूप को देखकर ईश्वर के प्रति आस्था और विश्वास का जन्म होता है, ईश्वर के रूप की एक कल्पित मूर्ति आँखों के सामने होती है, उससे प्रतीति होती है, और यह प्रतीति आवश्यक है। महाभारत के गीता जैसे विशुद्ध दार्शनिक स्थलों पर भी इसकी स्पष्ट छाया है। गीता में अर्जुन के प्रति जब श्रीकृष्ण ने आध्यात्मिक दृष्टिकोण से यह कहा कि सब जो कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है मेरा ही स्वरूप है, संब में ईश्वर का वास है, तो अर्जुन को प्रतीति नहीं हुई और उन्होंने इस वचन को सिद्ध करने की प्रार्थना की—

एवमेतद्यथात्थत्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ।।११-३।।

और जब ईश्वर ने अर्जुन को विश्वरूप के दर्शन कराये, तब उसे प्रतीति हुई। कहने का तात्पर्य यह है कि अल्पबुद्धि के सांसारिक लोगों में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस आध्यात्मिक दृष्टिकोण से ईश्वर की सत्ता पर विश्वास नहीं होता। यह ज्ञानियों का विषय है। जनसाधारण का यही प्रश्न होता है कि यदि ईश्वर है तो कैसा है? उसकी काल्पनिक आकृति ही प्रतिमा है। यहीं से मूर्ति-पूजा का भी श्रीगणेश होता है।

याज्ञिक उपासना में भी मूर्ति-पूजा का स्वरूप मिलता है, यजुर्वेद के ब्राह्मण ग्रंथों में अग्नि चयन मुख्य रूप से आया है। यहाँ पर विशालकाय वेदी में अग्निस्थापना पर अग्नि को ही विश्वरूप माना है, अर्थात् अग्नि को ही ईश्वर माना जाता है—क्योंकि संसार का मूल कारण ही ताप है ताप से ही सृष्टि होती है ताप से ही जीवन है--जिस दिन शरीर में ताप नहीं रहेगा, प्राण पखेरू उड़ जायेंगे। अस्तु, इस वेदी में कमलपत्र के आकार में थाली रखकर हिरण्यमय पुरुष (अग्नि) की स्थापना की जाती है। कमलपत्र अण्डाकार ब्रह्माण्ड का सूचक है और अग्नि (ताप) उसमें व्याप्त है, यहाँ पर......

यदक्रन्दः प्रथमं जायमान,
उद्यन्त्समुद्रादुतवा पुरीषात् ।

श्येनस्यपक्षी हरिणस्यबाहू,
उपस्तुत्यं महिजातं ते अर्वन् ।।

अग्नि को सम्बोधन किया गया है कि ब्रह्माण्ड में सर्व प्रथम उसी की उत्पत्ति हुई समुद्र के गर्भ और पुरीष (लावे) से, जो भू पिण्ड के अन्दर दबे रूप में विद्यमान था उसका आकार तब श्येन पक्षी (बाज) के आकार का था, सर्वप्रथम उत्पत्ति के कारण यहीं अग्नि सर्वप्रथम पूज्य हुई, होम यज्ञादि का वही आधार था।

पौराणिक युग में यहाँ वही श्येन पक्षी के रूप में विष्णु का वाहन गरुड़ की कल्पना की गई। तैत्तरीय आरण्यक आदि वैदिक साहित्य में भिन्न भिन्न प्रकार के दमविधि (ऊर्ध्वलिंग, भवलिंग, आदि) शिवलिंगों का उल्लेख मिलता है जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि यज्ञीय उपासना के साथ ही लिंग पूजा भी वैदिक काल से प्रचलित है।

वैष्णव-धर्म का अस्तित्व भी वेदों में है पुरुषमेध यज्ञ इसका प्रतीक है। वैष्णवधर्म जाति, धर्म, वर्ण, कुल गोत्र से परे सर्व भूतों में समानता का प्रतीक है, पुरुषमेध के अवसर पर सम्पूर्ण प्रजा बिना किसी भेद-भाव के समानरूप से यज्ञ में भाग लेती थी। इससे स्पष्ट है कि यह वर्णव्यवस्था, जातिव्यवस्था के घेरे से बाहर था—सम्पूर्ण जीव ईश्वर के अंश हैं, अतः सभी समान हैं, न कोई ऊँच न कोई नीच—यही इसके मूलभूत आधार थे। वास्तव में यह भक्तियोग का प्रतीक है और भक्तिकालीन कवियों सूर, तुलसी, जायसी, मीरा आदि का मार्ग यही वैष्णव-धर्म रहा है। किन्तु वैष्णव-धर्म के नाम पर बाद में जो धर्म चला, उसमें संकीर्णता का समावेश है, इसी कारण शैव-वैष्णवों में परस्पर संघर्ष भी हुआ। वैष्णव नामक जो आधुनिक उपासना है उसमें कृष्ण एवं राम की उपासना होती है। पुराणों में भी अन्य अवतारों के कथानकों के समान इनका कथानक है, किन्तु सांकेतिक रूप में। अन्य वाराहादि अवतार जिनका उल्लेख वेदों में भी है उनकी उपासना आज नहीं के बराबर होती है, इससे स्पष्ट है कि पुराणों के समय इनका स्थान सीमित था, बाद में वैष्णव-धर्म का यथेष्ट प्रचार किया और राम, कृष्ण आधुनिक युग के प्रमुख उपास्य बने, अथवा सम्भव है कि वेदों का जो अंश आज अलभ्य है, उसमें यह अंश हो। राम के साथ महावीरोपासना भी आधुनिक है। अन्य जो भी देवता हैं, वे प्रायः वैदिक काल से ही प्रचलित हैं। उल्लेखनीय है कि वेदों में देवताओं

की संख्या छोटे बड़े सब मिलाकर ३३३३३३३३३ है—(वैदिक साहित्य और संस्कृति)।

कुछ दो-चार प्रतीकात्मक नये देवों की कल्पना भी पुराणों ने की है, जैसे सत्य के प्रतीक सत्यनारायण शक्ति की प्रतीकात्मक दुर्गा आदि। किन्तु प्रतीकात्मक होते भी उसका आधार विज्ञान सम्मत है।

इस प्रकार यज्ञीय उपासना के स्थान पर मन्दिरों की स्थापना हुई। वेदों के जटिल मंत्रों के स्थान पर पद्यात्मक स्तोत्रों की रचना हुई, पुरोहितों ऋत्विजों के स्थान पर पुजारियों कथावाचकों को कार्य मिला। अश्वमेधादि विशाल यज्ञोत्सवों के स्थान पर तीर्थयात्रा एवं मेलों का आयोजन हुआ। कहने का तात्पर्य यह है कि धर्म के उस संधिकाल में आध्यात्मिक दृष्टिकोण वाले ज्ञानियों ने भले ही वैदिक दर्शन को अपनाया हो, बौद्ध या अन्य धर्म अपनाये हों। किन्तु अल्प बुद्धि जन-साधारण ने कर्मकाण्ड का त्याग नहीं किया अपितु केवल उसके रूप में परिवर्तन किया, और उसे आवश्यक मानकर स्वीकार किया—यही पौराणिक उपासना पद्धति है। जब तक देश का प्रत्येक व्यक्ति उच्च शिक्षा से अपना मानसिक विकास नहीं कर लेता है, तब तक कर्मकाण्ड का किसी-न-किसी रूप में अस्तित्व बना रहेगा।

पुराणों की दृष्टि में : कर्तव्य और नैतिकता

जब से मानव जाति में सोचने-विचारने की शक्ति आई है, तब से वह इस प्रश्न का समाधान ढूढ़ने में व्यस्त है कि क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य ? वास्तव में सृष्टि में अद्यावधि जितने युद्ध, संघर्ष हुए हैं, यदि उचित अनुचित का ज्ञान हो जाता तो शायद वे न होते। प्रत्येक व्यक्ति भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में उत्पन्न होता है और देश, काल के अनुसार प्रत्येक की विचार-प्रणाली भी अलग-अलग होती है। एक ही वस्तु अच्छी भी हो सकती है और बुरी भी। नीम के पत्ते मानव के लिए कड़वे हैं और बकरी के लिए मीठे। किसी रोग पर विष औषधि का काम देकर अमृत भी बन जाता है, अन्यथा वह साक्षात् मृत्यु है। देश और काल के अनुसार जैसी परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं, तदनुसार उचित और अनुचित की परिभाषा भी बदल जाती है। पानी की भरी बाल्टी का भार हवा में कुछ और होता है पानी में कुछ और। अनुचित और उचित की परिभाषा वास्तव में पुण्य और पाप की परिभाषा है, उचित पुण्य और अनुचित ही पाप है—इसी आधार पर धर्म की उत्पत्ति हुई है—

'य: स्याद्धारण संयुक्त: सधर्मं इति कथ्यते'

मनुष्य के लिए ग्रहण करने योग्य जो अच्छी प्रवृत्तियाँ हैं, वही धर्म है, और वह धर्म हमेशा स्थिर नहीं, अपितु परिवर्तनशील है जैसी परिस्थितियाँ उत्पन्न होंगी तदनुसार धर्म की परिभाषा बदल जायेगी। मनु का कथन है कि "समय के अनुसार धर्म के सिद्धान्तों में भी परिवर्तन होता रहता है।" सत्य, त्रेता एवं द्वापर प्रत्येक युग में धर्म की परिभाषा और थी, उक्तकालीन उचित और अनुचित अलग थे तथा आज कलियुग का धर्म भिन्न है। हमें वैदिक काल और उसके आगे की तुलना करने की आवश्यकता नहीं है। स्वयं पुराणों ने वैदिक धर्म का कैसा कायाकल्प किया—यह विदित है और वर्तमान में जो परिवर्तन हो रहे हैं, वह हमारे सामने प्रत्यक्ष है।

धर्म एवं अनुचित उचित के सम्बन्ध में भिन्न मत हैं। एक मत से मानव जीवन के लक्ष्य में जो साधन सहायक हैं वह उचित है, और लक्ष्य प्राप्ति में आने वाली बाधाएं अनुचित। किन्तु यहां पर भी यह प्रश्न उठता है कि वह

लक्ष्य क्या है ? कुछ लोग मानव जीवन का लक्ष्य 'सुख प्राप्ति' मानते हैं। जिससे शारीरिक और मानसिक सुख मिले—वही उचित है। इसके अर्थ यह हुए कि लूटमार अथवा चोरी आदि जिस साधन से भी सुख मिले वही उचित हुआ—किन्तु यदि सभी लोग यही उपाय अपनाने लगें तो जग में कौन सुख से रह पायेगा ?

इसमें संशोधन कर दूसरे मतावलम्बी कहते हैं कि दूसरों को बिना हानि पहुँचे जिस साधन से अपने को सुख पहुँचे वही उचित हैं। किन्तु यह मत भी युक्ति-संगत नहीं है। इतिहास में इस प्रकार के अनेक साक्ष्य हैं जहाँ मानव ने बिना अपने व्यक्तिगत सुख के यातनाएं सही हैं, अपना जीवन समर्पित किया है। बहुत दूर नहीं, भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के उन वीरों का जीवन जिन्होंने जन्मभूमि की स्वतंत्रता के लिए हँसते-हँसते अपने को फांसी के फंदे में लटकाया है, इसका प्रमाण है, क्या इसमें भी व्यक्तिगत सुख ही लक्ष्य था ?

धर्म की परिभाषा में ऊपर जो अच्छी प्रवृत्तियों को ही उचित ठहराया गया है, वह एक अपूर्ण वर्णन है। सामान्यत: ऐसा माना जाता है कि दया, प्रेम, अहिंसा, श्रद्धा आदि अच्छे गुण हैं, और भय, क्रोध, द्वेष, चोरी आदि बुरे। किंतु 'अच्छे गुण उचित हैं और 'बुरे अनुचित यह नियम सर्वत्र समान रूप से लागू नहीं होता। उदाहरण के लिए अहिंसा अच्छे गुणों में है, किंतु आततायी या अपने को हानि पहुँचाने वाले पर अहिंसा का भाव प्रदर्शित करना अनुचित होगा—मच्छर, जूं, नरभक्षी सिंह आदि को अहिंसा से प्रश्रय देना अनुचित है—यहाँ पर हिंसा ही उचित है। इसी प्रकार प्रेम का उदाहरण है। सामान्यत: यह अच्छा गुण है, किंतु वह प्रेम किस साधन या वस्तु से है ? एक शासक को अपनी प्रजा से प्रेम होना अच्छा है, उचित है, किंतु यदि उसे पर-स्त्री से प्रेम होता है तो अनुचित है—जो केवल उसी का नहीं, अपितु पूरे समाज के सर्वनाश का कारण है। इन्हीं आधारों पर पौराणिक उपाख्यान लिखे गये हैं। महाभारत का चरित्र हमें जुएँ से प्रेम का अनौचित्य दर्शाता है।

कुछ लोग उचित और अनुचित को परिणाम से तोलते हैं, परिणामवादियों के अनुसार जिस साधन से परिणाम अच्छा हो, वह उचित, और जिसका परिणाम ठीक न हो वह अनुचित है। वास्तव में यह मत भी एक भ्रम मात्र है। डूबते आदमी को बचाने एक अन्य व्यक्ति जाता है, किन्तु उल्टे वह स्वयं भी डूब जाता है, तो क्या उसका यह कार्य अनुचित कहा जायगा ? कदापि नहीं।

इस उचित अनुचित, पाप और पुण्य का निर्णय पुराणों में बहुत अच्छी प्रकार से हुआ है। महाभारत के समय इसी उचित-अनुचित का विचार अर्जुन के हृदय में भी उठा था। (यद्यपि महाभारत पृथक ग्रंथ है तथापि वह पुराणों से पृथक नहीं, पुराण, महाभारत समकालीन रचनायें हैं और महाभारत का विषय पुराणो मे भी है. स्वयँ पद्म पुराण में गीता का विशद वर्णन है, एतदर्थ महाभारत भी पुराणों का प्रतिनिधि है) एक तरफ वे भाई, गुरु गुरुपुत्र, पितामह भीष्म और अनेक मित्र तथा सुहृदगण थे—और उनसे युद्ध करना था। दूसरी ओर युद्ध की घोषणा हो चुकी थी—युद्ध भूमि में उभयपक्षीय सेनायें आमने-सामने खड़ी थीं—ऐसी विषम स्थिति में अर्जुन उचित अनुचित— से उसी प्रकार भयभीत था जैसे परिस्थितियों के वशीभूत बुद्धि जड़ हो गई है।

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सु समुपस्थितम्।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परि दह्यते।।

इसके उत्तर में अर्जुन को श्रीकृष्ण ने जो गीता का उपदेश दिया, उसका सार यही है कि जीवन में दो ही मार्ग हैं। अ—कर्मयोग आ—कर्म-सन्यास। कर्म सन्यास के अनुसार सभी कर्मों का त्याग करना होगा, क्योंकि यदि हम पग-पग पर अहिंसा एवं कर्तव्य-अकर्तव्य को देखें तो जीवन का निर्वाह ही सम्भव नहीं है। प्रत्येक कार्य में हिंसा ही तो है, क्या अहिंसा का आश्रय लेकर अपने को हानि पहुँचाने वाले मच्छर, जूं खटमलों का भी पालन करेंगे? क्या पौधों और वृक्षों में चेतनता के कारण उनमें भी जीवांश तो है ही—तो क्या अनाज के खेतों से घास का निष्कासन, चारे के लिए घास काटना, भी निषिद्ध ठहरायेंगे? और अन्न के दानों में बीज रूप से स्थित जीवांश को मानकर अन्न की पिसाई, पकाना और खाना भी त्याज्य ही ठहरायेंगे? ऐसी अवस्था में यदि सभी लोग कर्मों का त्याग कर बैठ जायें तो निर्वाह कैसे हो सकता है? इसी हेतु दूसरा कर्मयोग का मार्ग सरल और अच्छा है—

नियतं कुरु कर्मत्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मण:।
शरीर यात्रा, पि च ते न प्रसिद्धये दकर्मण:।।

और श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कर्म को आवश्यकीय बतलाकर कर्म करने की प्रेरणा दी—

तस्मादसक्त सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पुरुषः ॥
कर्मणैवहि सं सिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोक संग्रह मेवापि संपश्यन्कर्तु मर्हसि ॥
न हि कश्चित् क्षणमपि जातुतिष्टत्यकर्म कृत ।
इत्यादि ।

अर्थात् कर्म न करने वाला एक क्षण भी नहीं ठहर सकता है। एतदर्थं कर्म करो, उसी में सिद्धि है।

अब प्रश्न उठा कि वह कर्म क्या है ? इसके बारे में गीता में भी वही कहा गया है—न तो कोई कार्य अच्छा है, और न कोई कार्य बुरा, केवल तत्व को समझने की बात है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्व दर्शिभिः ॥

कहने का तात्पर्य यह है कि स्वभावतः न तो कोई काम पुण्य होता है और न कोई काम पाप। कोई भी कर्म पुण्यकारक होगा या पापकारक यह आपकी भावनाओं तथा परिस्थितियों पर आधारित है।

वास्तव में गीता और पुराणों में यह मत वैदिक विचारों का ही छायावाद है—

त्रिशीर्षाणंत्वाष्ट्रमहनम्। अरुन्मुखान् यतीन् साला वृकेभ्यः प्रायच्छम्। बह्वी संधा अतिक्रम्य दिवि प्रह्लादीयान् तृणमहमन्तरिक्षे पौलोमान् पृथिव्यां कालखाञ्जान्। तस्य मे तत्र न लोम च मा मीयते ॥

स यो मां विजानीयान्नास्य केन च कर्मणा लोको मीयते। न मातृवधेन न पितृवधन न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया। नास्य पापं च न चकृषो मुखान्नील येतीति ॥

—कौषितकी उपनिषद्

यहाँ पर इन्द्र का कथन है कि कर्तव्य या अकर्तव्य कोई वस्तु नहीं है, कहीं पर कर्त्तव्य भी अकर्त्तव्य हो जाता है और कहीं अकर्त्तव्य भी कर्त्तव्य। स्वयं मैंने त्रिशीर्षा त्वाष्ट्र का बध किया, यतियों को उलटे लटकाया, और उन्हें भक्ष्य के रूप में भेड़ियों को दे दिया। स्वर्ग में प्रह्लाद के वंश का अंतरिक्ष में पौलोमों का, और पृथ्वी पर कालखाञ्जों का मैंने बध किया, किन्तु इससे मुझे

कोई भी पाप न लगा। कर्तव्य एवं अकर्तव्य के तत्व को जो भली-भांति जान लेता है उसे मातृवध, पितृवध, स्तेय तथा भ्रूण-हत्या आदि का कोई दोष नहीं होता।

इन्द्र के इस कथन से पुराणों के उस उपाख्यान का स्मरण हो जाता है, जहाँ पर श्री परशुराम जी ने अपने पिता के प्रति अपने कर्तव्य को पूर्ण करते हुए मातृवध भी किया था।

इन वैदिक विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्तव्य के रहस्य (कर्म) को जान लेने पर पाप-पुण्य का कोई प्रश्न नहीं रहता, एवं हिंसा भी कभी पाप नहीं पुण्य का परिचायक हो जाती हैं। यही विचार गीता में भी आये हैं—

> न एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
> उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥
>
> वेदा बिनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
> कथं स पुरुषः पार्थं कं घातयति हन्तिकम् ॥
>
> x x x
>
> ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्यसि ॥
>
> इत्यादि।

यहाँ पर श्रीकृष्ण ने अर्जुन से यही कहा कि आत्मा तो अमर है। कौन उसको मारता है, कौन मरता है ? अर्थात् कोई नहीं। आत्मा अमर है, अतः न उसको मृत्यु होती है, और न हिंसा ही होती है। रहा देह का प्रश्न, वह नश्वर है, एक न एक दिन उसका नाश होना ही है, अतः उसके नष्ट होने में क्या दोष, फटे कपड़े के समान उसका त्याग हो गया—अतः हिंसा में क्या दोष ? एतदर्थ उन्होंने युद्ध करो' यह आज्ञा प्रदान की।

किन्तु सामाजिक निर्वाह के लिए कुछ नियमों की आवश्यकता होती है, अन्यथा जिसके मन जैसा आये, अपने स्वार्थवश सभी कर्मों की मानव को स्वतंत्रता रहे तो वह हिंसा का अनुचित प्रयोग भी करेगा उस हिंसा और स्वतंत्रता का परिणाम यह होता है कि मानव-जाति का सामूहिक विनाश। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि बिना हिंसा के भी मानव-जीवन का निर्वाह सम्भव नहीं है, और अनियन्त्रित हिंसा भी ठीक नहीं है, एतदर्थ कुछ प्रतिबन्धों के साथ हिंसा को पुराणों ने स्वीकार किया है। पुराणों के रचना-समय में वैदिक हिंसा का आश्रय लेकर जो अनियन्त्रित हिंसा का प्रचलन था, उसका तो पुराणों ने

विरोध किया; किन्तु हिंसा का सर्वथा त्याग वाले सिद्धांतों का भी पुराणों ने समर्थन नहीं किया है।

उस समय वैदिक हिंसा के विरोध में जो बौद्ध-धर्म चला, उसके खेमे में जाने से पुराणों ने बहुतों की अन्तरात्मा को रोका। वास्तव में पुराणों का कर्तव्यवाद बौद्ध-धर्म पर एक कड़ा तमाचा है, जिसने 'अहिंसा-अहिंसा' कहकर चिल्लाने वाले बौद्धों को कड़ा उत्तर दिया कि हिंसा के बिना जीवन-निर्वाह सम्भव ही नहीं है, अतः नियंत्रित हिंसा पुण्य ही है पाप नहीं; और वास्तव में यही सत्य भी है। हम देखते हैं कि पग-पग पर अहिंसा को देखकर चलने से मानव-जीवन एक दिन भी नहीं चलता है, मानो हिंसा ही उसकी आधार-भित्ति है।

विगत भारतीय इतिहास इस बात का साक्षी है—किस प्रकार बौद्ध-धर्म से प्रभावित भारतीय शासकों ने अहिंसावाद रूपी कायरता को वरण कर अपने देश को पराधीनता की गोद में सौंपा—जिसका प्रायश्चित हम आज तक कर रहे हैं।

एतदर्थ मर्यादित सामाजिक नियमों का पुराणों ने समर्थन किया है, ये सामाजिक व्यवहार के नियम स्मृतियों के रूप में विद्यमान हैं। इन नियमों को बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय, समाज के अग्रणी लोग तैयार करते थे। यद्यपि उनका उद्देश्य—

'परोपकार पुण्याय पापाय परपीडनं'

ही है, तथापि जिस वस्तु से किसी एक का हित होगा, उससे किसी का अहित भी हो सकता है, एतद्दर्थ सामूहिक रूप से जिससे अधिक-से-अधिक लोगों का हित हो और कम-से-कम अहित—इस प्रकार के सामाजिक नियम तैयार किये गये। भिन्न-भिन्न लोगों के गुण तथा कर्मों के अनुसार उनके लिए नियम भी भिन्न-भिन्न बनते हैं, और समय तथा देश की परिस्थितियोंवश समय-समय पर इन नियमों में समाज के मान्य नेताओं द्वारा परिवर्तन भी किया जाता है। समय, देश एवं परिस्थितियोंवश कर्तव्य में कैसा परिवर्तन हो जाता है, इसका सुन्दर दृष्टान्त स्वामी विवेकानन्द ने दिया है। एक मुस्लिम या ईसाई (मांसभक्षी) धर्म में दीक्षित मानव के लिए गोमांस खाना एवं उसे दूसरे को देना ही कर्तव्य है, और एक हिन्दू या बौद्ध-धर्म में दीक्षित मानव के लिए यह अकर्तव्य है। यह कदापि नहीं सोचना चाहिए कि एक धर्म में जो कर्तव्य स्वीकार किया

गया है वह सब पर लागू होगा, भिन्न भिन्न सामाजिक नियमों की अपनी परिभाषा है। यहाँ पर इस्लाम धर्मी का मांस भक्षण ही पुण्य है, और हिन्दू का मांस भक्षण करना ही पाप है। धर्म की सीमा में यहाँ कर्त्तव्य बदल जाता है।

वास्तव में धर्म देशकाल एवं परिस्थितियों के अनुसार ही निर्धारित होता है। शेष भारत में जहाँ मांस भक्षण वर्जित है वहीं काश्मीर आदि शीतप्रधान देशों में उच्च कहे जाने वाले ब्राह्मण वर्ग में भी मांस भक्षण एक साधारण बात है।

इसी प्रकार बंगाल में मांस से (मछली) ही श्राद्ध सम्पन्न होता है और बिना मछली के श्राद्ध हो ही नहीं सकता यह अनिवार्य है, क्योंकि मछली वहाँ के भोजन का और जीवन का एक अभिन्न अंग है। जब कि शेषभारत में यह सर्वथा वर्जित है।

मनुस्मृति में भी मांस से श्राद्ध करने का विधान है। गैंडे की हड्डी से तर्पण करना पवित्र माना गया है। यद्यपि कुछ विद्वान इसे क्षेपक मानते हैं लेकिन यह सुनिश्चित है कि कुछ आर्यों में मांस भक्षण प्रचलित था।

इसी प्रकार एक साधारण व्यक्ति द्वारा किसी व्यक्ति को मार देना कर्तव्य नहीं है अपितु इस अकर्तव्य के लिए वह दण्डनीय भी है, किन्तु एक सिपाही युद्ध के समय जितनी अधिक संख्या में शत्रु पक्ष के लोगों को मारेगा, उसका वह कार्य उतना ही प्रशंसनीय होगा। सिपाही के लिए यही उसका कर्तव्य है।

इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य छोटा कार्य करता है, तो वह छोटा नहीं कहा जा सकता। केवल कर्तव्य के स्वरूप से ही मनुष्य की उच्चता या नीचता का अंकन नहीं हो सकता है हमें यह देखना होगा कि वह अपना कर्तव्य कितनी निष्ठा से पूर्ण करता है? इस सम्बन्ध में महाभारत एवं पुराणों में कुछ अन्तर से एक ब्राह्मण (संन्यासी) की कथा आती है, जिसको अपनी विद्या एवं तपस्या पर बड़ा अभिमान था, अन्त में उसे एक साधारण स्त्री, और व्याध (बूचड़) से हार माननी पड़ी और व्याध से उसने उपदेश ग्रहण किया, वास्तव में स्त्री एवं व्याध न तो शिक्षित थे, और न तपस्वी—किन्तु अपने कर्तव्य का पूर्णतः पालन करने से वे तपस्वियों से भी बढ़कर थे। पुराणों ने कर्तव्य को ही सबसे बड़ा माना है। इसी मत को स्मृतियों में भी प्रतिपादन किया गया है।

'कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः'

वास्तव में आजकल जो न्यायविधान है, वही वर्तमान समय की सामाजिक नियमावली (लॉ) है। इसमें केवल इतना ही अन्तर है कि आधुनिक सामाजिक नियमों (लॉ) का पालन मानव केवल बाह्य दृष्टि से करता है—अन्तर से नहीं। किन्तु पुराणों ने अन्तर तथा बाह्य दोनों दृष्टियों से इन नियमों के पालन की आज्ञा दी है। आधुनिक न्यायविधान में गुप्त रूप से किये गये अनैतिक कर्म के प्रति किसी प्रकार दण्ड-व्यवस्था नहीं हो सकती है, और न उसके भेद खुलने तक किसी प्रकार के भय या दण्ड का ही विचार आता है, किन्तु पुराणों के कर्तव्यवाद में—

'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभं'

सामाजिक नियमों के विरुद्ध किये गये कर्म चाहे वे गोपनीय रूप से किये हों, कभी भी उनका भेद न खुले, तब भी उसका दण्ड मानव को ईश्वरीय दण्ड विधान द्वारा कभी न कभी किसी रूप में अवश्य मिलेगा।

इस प्रकार पुराणों के कर्तव्यवाद की परिभाषा अत्यन्त सूक्ष्म किन्तु अतिशय गूढ़ है—

"समाज द्वारा निर्धारित नियम—जो कि शासन से अनुमोदित हों—भले ही वे अच्छे हों या बुरे, उनका यथोचित पालन—मनसा, वाचा, कर्मणा—करना कर्तव्य एवं पुण्य है।

और सामाजिक नियमों का विरोध एवं उल्लंघन भले ही वे कार्य अच्छे हों अकर्तव्य एवं पाप हैं।

'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्म निरतः सिद्धिं यथा विन्दतितच्छृणु ;।
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं जगत्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।।

\+ + +

स्वभाव नियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषं।
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।।"

पुराणों की उदार धर्म व्यवस्था

धर्म शास्त्र सम्बन्धी मामलों में भी पुराणों का मन्तव्य सर्वथा समयानुसार तथा व्यावहारिक है। समाज में ऐसी मान्यता है कि एक ही गोत्र में (सगोत्र)

विवाह संभव नहीं है लेकिन अग्नि पुराण तथा अन्य कई पुराणों में भी पिता से सात पीढ़ी से बाहर सगोत्र में भी विवाह हो सकता है—"पितृतः सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पंचमात्तथा" इसी प्रकार "नष्टे मृते प्रव्रजिते०" आदि के आधार पर पाराशरस्मृति में विधवा के पुनर्विवाह की जो स्वीकृति दी गयी है, पुराणों में भी इसका समर्थन है।

यदि किसी कन्या या स्त्री का अपहरण हो जाय; या बलात्कार हो जाय तो उस कन्या या स्त्री का परित्याग नहीं होना चाहिए। यदि किसी विजातीय व्यक्ति या शत्रु ने उससे संभोग किया हो, तो वह केवल पुनः रजस्वला होने तक ही अपवित्र मानी जाय, महिने भर बाद रजस्वला होने पर उसे पुनः निष्पाप व शुद्ध मान लिया जाय। यदि गर्भस्थापन हो जाय तो भी उसे बच्चे को जन्म देने के बाद शुद्ध मानकर ग्रहण कर लिया जाय, ऐसी उदार व्यवस्था भी पुराणों में मिलती है—

असवर्णेन यो गर्भः स्त्रीणांयोनौ निषिच्यते।
अशुद्धा तुभवेन्नारी यावच्छल्यं न मुंचति॥
निसृते तु ततः शल्ये रजसा शुद्ध्यते ततः।
(अ० पु० ६७/२०-२१)

\+ \+ \+

बलात्कारोपयुक्ताचेद्‌रिहस्तगताऽपिवा ।
स त्यजेद दूषितां नारीऋतुकालेन शुध्यति॥

यह उदार धर्म व्यवस्था जो आज आवश्यक व उपयोगी है, उस समय भी उपयोगी रही होगी।

ब्राह्मण ग्रंथ तंत्र और पुराण

यह ज्ञातव्य है कि हमारा वैदिक साहित्य संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद (आरण्यक) तथा वेदांग इन चार भागों में है सम्राट विक्रम के समय तक (दो हजार वर्ष पूर्व) जो वैदिक साहित्य था, वह आज अलभ्य है। तत्कालीन ग्रंथ महाभाष्य में तथा अन्य ग्रंथों में वैदिक साहित्य की जो सूची मिलती है—उसमें से अब केवल एक शतांश ही प्राप्त होता है। उन दिनों मात्र हस्तलिखित व कुछ ही प्रतियां होती थीं जो आक्रमणकारियों द्वारा भारतीय पुस्तकालयों को जला दिये जाने से नष्ट हो गया है अथवा विदेशों में चला गया है, जो इस प्रकार है :—

	ऋग्वेद	यजुर्वेद	सामवेद	अथर्ववेद
विक्रम के समय	२१	१०१	१०००	९
वर्तमान में	१	५	३	२

अर्थात् विक्रम के समय कुल ग्रंथ संख्या २१+१०१+१०००+९ =११३१
आज उपलब्ध १+५+३+२ =११

यही स्थिति ब्राह्मणग्रंथों, उपनिषदों व वेदांगों की भी है।

यहां यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ब्राह्मण ग्रंथ क्या हैं? वास्तव में ब्राह्मणग्रंथों में संहितामंत्रों के प्रयोग व उपयोग की विधि वर्णित है। किस मंत्र या ऋचा का कहां, कब, कैसे और क्यों उपयोग किया जाता है, यह ज्ञान ब्राह्मणग्रंथों से ही प्राप्त होता है अतः ब्राह्मणग्रंथों के अभाव में संहिताग्रंथों का प्रयोग ही सम्भव नहीं है।

वास्तव में ब्राह्मणग्रंथ वेदों की कुंजियां हैं।

(अ) ऋग्वेद का—ऐतरेय तथा सांख्यायन ब्राह्मण।

(आ) यजुर्वेद का—शतपथ (तैत्तरैय व आरण्यक कृष्ण यजुर्वेद का)

(इ) सामवेद का—ताण्डय ब्राह्मण।

(ई) अथर्ववेद का—गोपथ ब्राह्मण।
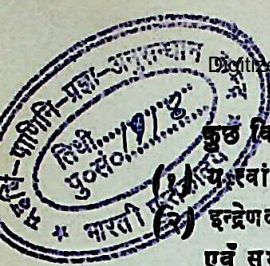
कुछ विशेष अनुष्ठान इस प्रकार हैं :—

(१) यस्त्वां मृत्यु० शीषक ऋचा का अनुष्ठान अल्प मृत्यु से रक्षाकारी है।
(२) इन्द्रेणदत्तम्०(इन्द्रेणदण्ड० वा)शीर्षक ऋचा का अनुष्ठान मनोकामनापूरक एवं सभी बाधानिवारक है।
(३) यमस्य लोकान्० यह दुःस्वप्न नाशक है।
(४) इन्द्रश्चपंच० यह व्यवसाय में लाभ व उन्नति कारक है।
(५) कामो मे वाजी० यह महिलाओं के सौभाग्य में वृद्धि एवं दाम्पत्य सुख सूचक है।
(६) अग्नेगोभिन० यह बुद्धिवर्धक है।
(७) ध्रुवंध्रुवेय० यह स्थानलाभ (पदलाभ) कारक है।
(८) अलक्तजीव० यह कृषि सम्पदा में वृद्धिकारी है।
(९) सपत्नहन—का अनुष्ठान शत्रुनाशक व विजयप्रद है।
(१०) त्वमुत्तमं—का अनुष्ठान यश व बुद्धि में वृद्धिकारक है।
(११) येन चेहदिशं च—का अनुष्ठान गर्भ स्थापन कारक (सन्तानदायक) है।
(१२) अयंते योनि—का अनुष्ठान पुत्रदायक है।
(१३) मुंचामित्वा—का अनुष्ठान अल्पमृत्यु से रक्षा कारक है।

ऋग्वेदीय अनुष्ठान

(१) 'सदसस्पति०' शीर्षक तीन ऋचाओं का पाठ, जल में जप अथवा होम बुद्धिवर्धक है।
(२) 'अन्वयोयन०' शीर्षक नौ ऋचायें रोगशान्ति कारक तथा अल्पमृत्यु निवारक हैं।
(३) 'हिरण्यस्तूप०' ऋचा शत्रुबाधा शामक व विजयप्रद है।
(४) येतेपंथा०' शीर्षक ऋचा यात्री के निमित्त सकुशल यात्रा व सफलता दायक है। स्वस्तिपंथा०' शीर्षक ऋचा का भी यही प्रभाव है।
(५) 'आनोभद्रा० इस ऋचा का जाप दीर्घायु कारक है।
(६) यात्रा में 'जातवेदस०' ऋचा का जप करने से यात्रा भय व कष्ट रहित होती है और यात्री सकुशल लौटता है।
(७) गर्भिणीस्त्री के प्रसव के समय 'प्रमन्दिन०' ऋचा का जप अथवा इससे अभिमंत्रित पेय पीने से प्रसव शीघ्र व सुखपूर्वक होता है। इसी प्रकार विजिहीष्व वनस्पते०' शीर्षक ऋचा भी सुखप्रसव कारक है।

ब्राह्मणग्रंथ भी आज के युग में सम्पूर्ण उपलब्ध नहीं हैं। उदाहरण के रूप में अथर्ववेद का "गोपथ ब्राह्मण" जो आज प्राप्त है वह अपूर्ण है, उसमें ब्राह्मण ग्रंथों की सामग्री है ही नहीं। इस ग्रंथ के अभाव में अथर्ववेद के मंत्रों एवं अनुष्ठानों का प्रयोग सम्भव ही नहीं है।

उल्लेखनीय है कि अथर्ववेद मुख्यत: तंत्र से सम्बन्धित है जन साधारण की समस्याओं से सम्बन्धित नीरोगता, दीर्घायु, आर्थिक समृद्धि व्यापार में उन्नति, राज्य या पद का लाभ, बुद्धि विद्या में प्रगति, शत्रु पराजय, कृषि उन्नति, पशु समृद्धि, सन्तति लाभ, गृहस्थ सुख की प्राप्ति आदि के निमित्त तंत्रों का विशद वर्णन है साथ ही अन्य तंत्रों की तुलना में अथर्ववेद का तंत्र साहित्य अधिक प्रभावी व उपयोगी माना गया है। यह सभी प्रयोग लोक कल्याण एवं जन कल्याण की भावना से हैं। अन्य तंत्र ग्रंथों में वर्णित तंत्र जहाँ कीलित (प्रभावहीन) तथा अभिचार (मारण, मोहन, उच्चाटन आदि अहितकारी षट्कर्मों) से सम्बन्धित हैं वहीं अथर्ववेद का तंत्र साहित्य जीवित (प्रभावकारी, अकीलित) और समाज के लिए कल्याणकारी है।

पुराणों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि पुराणों ने ब्राह्मण ग्रंथों की रक्षा में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया है। जो आंशिक रूप में ही सही, परन्तु बहुमूल्य है। पुराणों में इन ब्राह्मणग्रंथों का सर्वांगीण उल्लेख सम्भव भी न था, क्योंकि उनकी विषय वस्तु भिन्न है। इसके बावजूद पुराणों में कुछ मुख्य-मुख्य कामनाओं से सम्बन्धित अथर्ववेद के तांत्रिक प्रयोगों की विधि के साथ ही ऋग्वेद व सामवेद के तांत्रिक प्रयोगों का भी उल्लेख मिलता है। वैसे तो पर्याप्त मात्रा में इन प्रयोगों का वर्णन है, यहाँ पर इनमें से कुछ आवश्यक एवं जनहित के प्रयोगों की विधि का पुराणोक्त वर्णन दे रहा हूँ।

अथर्ववेदीय अनुष्ठान

(१) 'शान्तातीयगण' से हवन शान्ति कारक है।
(२) 'भैषज्यगण' रोगशान्ति कारक हैं।
(३) 'अभयगण' से मनुष्य के भय दूर होते हैं।
(४) 'अपराजितगण' के अनुष्ठान से मनुष्य पराजित नहीं होता।
(५) 'आयुष्यगण' का अनुष्ठान अल्पमृत्यु से रक्षा कारक है।
(६) 'वास्तुगण' का अनुष्ठान गृहभूमि सम्बन्धी समस्त दोषों का निवारक है।

(८) 'इमां'० शीर्षक दो ऋचाओं का अनुष्ठान इच्छित मनोकामना पूर्ण कारक है।

(९) 'मानस्तोके०' शीर्षक दो ऋचाओं का शुद्धतापूर्वक उपोषित रहकर निरन्तर तीन रात्रि जप करके घृत के साथ गूलर की समिधा से हवन करने से अल्पमृत्यु का निवारण होता है।

(१०) 'उभे वासा०' शीर्षक सूक्त अथवा 'इमंनु सोम०' अथवा 'यो जात०' शीर्षक सूक्त का अनुष्ठान मनोकामना पूर्ण करने वाला है।

(११) कंकतोन० ऋचा समस्त विषबाधा का शामक है।

(१२) 'चित्रं देवानां' शीर्षक ऋचा धनदायक है।

(१३) 'अपेहि०' और 'अघ: स्वप्न०' तथा 'यो मे राजन्०' शीषक ऋचायें दु:स्वप्न शामक हैं।

(१४) वर्षा की कामना से (वृष्टियज्ञ) 'अच्छावद' शीर्षक ऋचा का अनुष्ठान किया जाना चाहिए। यह अनुष्ठान निरन्तर निराहार व निर्वस्त्र होकर करना चाहिए।

(१५) राज्य, पद अथवा सेवा प्राप्ति की कामना से 'अश्वपूर्वां' इस मंत्र का एक लक्ष जप व दश सहस्त्र हवन का अनुष्ठान है। ब्राह्मण मृगचर्म में, क्षत्रिय व्याघ्रचर्म में, वैश्य बकरे की खाल में बैठकर स्नान तथा जपादि अनुष्ठान पूर्ण करे।

(१६) पशुओं की समृद्धि व नीरोगता हेतु 'आगार०' शीर्षक सूक्त का अनुष्ठान करे।

(१७) शासक को अपने युद्ध में वाद्ययंत्रों (दुन्दुभि) को 'उपेति०' शीर्षक सूक्त से अभिमंत्रित करना चाहिए, इससे युद्ध में जय प्राप्त होगी।

(१८) 'प्राग्नये०' इत्यादि तीन सूक्तों का अनुष्ठान अक्षय धनदायक है।

(१९) 'त्र्यम्बक०' शीर्षक ऋचा का अनुष्ठान दीर्घायुदायक है।

(२०) 'इन्द्रासोम०' शीर्षक ऋचा का अनुष्ठान शत्रुनाशक है।

(२१) 'मही०' इत्यादि चार ऋचाओं का अनुष्ठान महान से महान भयों से रक्षाकारक है।

(२२) 'प्रावेपाम० ऋचा का रात्रि में मानसिक जाप द्यूत में जयदायक है।

(२३) ब्रह्मणाग्नि संविदानं० यह ऋचा गर्भस्थ शिशु की मृत्यु से रक्षाकारक है।

सामवेदीय अनुष्ठान

(१) 'परिप्रियाहिव:'० इस ऋचा के अनुष्ठान से वांछित पत्नी की प्राप्ति होती है।

(२) पुत्र सन्तति प्राप्ति के निमित्त 'रथन्तर०' ऋचा का अनुष्ठान करे।

(३) 'मयिश्री:' ऋचा का अनुष्ठान श्रीवृद्धिकारक है।

(४) शत्रु के मारण हेतु अभिचार कर्म करना हो तो वषट्कारपूर्वक 'अमित्वा शूरनां नुमो० शीर्षक ऋचा का अनुष्ठान व एक हजार हवन करे। पिष्ट से शत्रु की मूर्ति बनाकर उसे छुरे से काटकर सरसों के तेल में भिगाकर क्रोधपूर्वक हवन करे।

पुराणों में वर्णित प्राचीन भूगोल-खगोल

अन्य विषयों की तरह ही पुराणों में भूगोल तथा खगोल विषयक साहित्य भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। अन्य अंशों की तरह इसमें भी कुछ अशुद्धियां एवं अतिरंजित वर्णन प्राप्त होता है। कुछ स्थानों पर कल्पना का पुट देकर विषय को बढ़ा-चढ़ाकर दिया गया है। फिर भी इसके अधिकांश अंश बड़े महत्व के एवं युक्ति-संगत हैं। नारद पुराण एवं अन्यान्य पुराणों में भी जो ज्योति-विज्ञान एवं खगोल वर्णन है वह आधुनिक विज्ञान-सम्मत है, जिसमें खगोल सम्बन्धी महत्वपूर्ण सामग्री है। इसी प्रकार भूगोल का वर्णन भी न्यूनाधिक रूप में सभी पुराणों में हुआ है। जिसकी कल्पना का सही मूल्यांकन कर लेने पर हजारों वर्ष पहले विश्व की जो भोगोलिकी स्थिति थी उसका सही चित्र उपस्थित हो जाता है। हम सगर्व यह कह सकते हैं कि पुराणकार विश्व के कोने-कोने से परिचित थे, सर्वत्र उनकी गति थी।

हमें आश्चर्य और गर्व होता है कि विश्व की जो भोगोलिक स्थितियों का उन्होंने वर्णन किया है-- कई स्थानों की भोगोलिक स्थिति आज तक उसी रूप में विद्यमान है। विश्व का सर्वश्रेष्ठ सौन्दर्य स्थल स्विटजरलैण्ड, विलासियों और अप्सराओं की नगरी पेरिस, उत्तरी अमेरिका आदि इसके प्रमाण हैं। मुझे प्राचीन भूगोल विषयक अनेक ग्रंथों को देखने का अवसर मिला, किन्तु प्राय: सभी विद्वानों ने केवल पौराणिक आधार पर ही प्राचीन विश्व की कल्पना की है। यहां तक कि कर्नल विल्फर्ड ने भी प्रो० विल्सन के विष्णु पुराण अंग्रेजी अनुवाद के आधार पर ही अर्थ लगाये हैं। पुराणों का वर्णन अतिरंजित और कुछ अंश कल्पित भी है। केवल उसका ही सहारा लेकर सही निर्णयों पर पहुंचना असम्भव है—यही कारण है कि उसमें भी प्रत्येक विद्वान ने भिन्न-भिन्न मत दिये हैं।

यद्यपि पुराणों से पृथक समकालीन संस्कृत साहित्य में भूगोल-खगोल सम्बन्धी अनेक ऐसे प्राचीन ग्रंथ उपलब्ध हैं, जो सर्वथा आधुनिक विज्ञान सम्मत हैं। उस पुराकाल का वैज्ञानिक साहित्य हमारे पास है, जब दिव्य-दर्शी भारतीय ऋषियों ने पृथ्वी का ही क्या अपितु सारे ब्रह्मांड का कोना-कोना ढूंढा था। विश्व के

किसी भी साहित्य में जब एक हजार के ऊपर के लिए कोई नाम न था, वहाँ अठारह अंकों तक के नाम निर्धारित कर लिये गये थे। न्यूटन और पैथागोरस का जब जन्म भी नहीं हुआ था, इससे सैकड़ों वर्ष पहले उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत यहाँ सिद्ध किये जा चुके थे, तथा ग्रीस सभ्यता पूर्व की ओर मुख किये भारत से दीक्षा ले रही थी, जिसे इतिहास जानता है। फिर भी पता नहीं हमारे साहित्यकार इन ग्रंथों से क्यों अनभिज्ञ रहे, और क्यों इनकी सहायता नहीं ली गई ?

अस्तु, ज्योतिर्विज्ञान के एक सेवक होने के नाते, मैं कह सकता हूँ कि कुछ विद्वानों ने पौराणिक तथ्यों को तोड़ मरोड़ कर जिस प्रकार सप्तद्वीपों की इस पृथ्वी पर कल्पना की है, वह युक्तिसंगत या विज्ञान सम्मत नहीं है। यह आवश्यक है कि पुराणों के साथ ही अन्य सम-सामयिक ज्योतिर्विज्ञान के विज्ञान-सम्मत भूगोल विषयक ग्रंथों के माध्यम से सही तथ्यों का ज्ञान हो सकता है। पुराणों में सप्तद्वीपों के अतिरंजित वर्णन से जो भ्रम उत्पन्न होता है, वह भ्रम अन्य सम सामयिक भौगोलिक एवं वैज्ञानिक साहित्य से ही दूर हो सकता है।

पुरातन भूगोल पर एक दृष्टि

प्राकृतिक शक्तियों की परिवर्तनकारी प्रवृत्ति के कारण विश्व एवं ब्रह्माण्ड के सभी दृश्य-पदार्थों के स्वरूप में परिवर्तन होता रहता है। इन्हीं अवश्यम्भावी परिणामों से हमारे भूमण्डल की स्थिति में भी परिवर्तन होते आये हैं—इस बात से सभी विद्वान् सहमत हैं। जहाँ पर आज समुद्र लहरा रहे हैं लाखों वर्ष पहले वह स्थल के रूप में भी रहे हैं, और जहाँ तब समुद्र थे वहाँ आज स्थल एवं ऊँचे पर्वत भी दृष्टिगोचर होते हैं। सिन्धु की घाटी—जो खुदाई से एक सभ्य और उन्नत नगरी सिद्ध हुई है—आज सुनसान है। अनेक विद्वानों ने कल्पना की है कि जिस प्रकार आज पूर्वी और पश्चिमी गोलार्धों में पृथ्वी विभक्त है, उसी प्रकार पहले उत्तरी और दक्षिणी नामक दो गोलार्धों में विभक्त होगी। उत्तरी गोलार्ध में यूरोप और अमरीका तथा दक्षिणी में भारत, आस्ट्रेलिया और दक्षिणी अमरीका मिले होंगे। उत्तरी गोलार्धों को अंगारा और दक्षिणी गोलार्ध को गोंडवाना कहा जाता होगा, और इनके बीच जो समुद्र होगा उसे टेथिस कहा जाता होगा। किन्तु वास्तविक रचना कैसी थी ? इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है।

सर्वप्रथम हमें यह देखना है कि पुरातन भूगोल पर किस आधार से अन्वेषण करें ? जहाँ तक साहित्य का प्रश्न है, उसमें भारतीय साहित्य ही

सबसे प्राचीन है। भारतीय संस्कृत-साहित्य विशेषत: वैदिक साहित्य इतना प्राचीन है कि उसकी तुलना में विश्व भर में किसी भी भाषा म इससे प्राचीन साहित्य सुलभ नहीं है। इसी प्रकार पाश्चात्य विद्वानों ने भी, जो कुछ इस विषय में शोध किया है उसमें संस्कृत-साहित्य का ही आधार लिया है। वेदों में भूगोल वर्णन बहुत विस्तार से या स्पष्टतया नहीं है, फिर भी उससे काफी आधार मिलते हैं। वैदिक आर्यों के निवास-स्थान को 'सप्तसिन्धु' कहा गया है। अवेस्ता में भी 'हप्तहिन्दु' यह नाम आया है क्योंकि अवेस्ता में 'स' के स्थान पर 'ह' का उच्चारण होता है। समुद्रों के सम्बन्ध में 'चतु: समुद्रा:' कई स्थलों पर आया है, जिससे चार समुद्रों का पता चलता है (ऋग्वेद ९।३३।६, १०।४७।२)। वैदिक आर्यों के निवास-स्थान से पूर्व और पश्चिम में दो समुद्र थे, जिन्हें पूर्व समुद्र और अपर समुद्र कहते थे (ऋ० १०।१३६।५), अन्य दो समुद्र किस दिशा में थे, इसका स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता।

ऐतरेय ब्राह्मण (८।२५) में पृथ्वी को समुद्र से घिरी हुई कहा गया है। 'इमम्मे गंगे यमुने सरस्वती··' आदि (ऋ० ७।९५।२-३, १०।७५।५-६; ५।५२।१७, ६।४५।३३), सूक्तों से यह विदित होता है कि गंगा, यमुना, सरस्वती, दृषद्वती, विपाशा (व्यास), शतद्रु (सतलज), परुष्णी, असिक्नी, वितस्ता, मरुद्वृधा, आर्जीकीया, सुषोमा, तृष्टोमा, सुसर्तु, रसा, श्वेती, क्रुमु, गोमती, कुभा, मेहत्नू आदि नदियों का अस्तित्व उस समय में था। सप्तसिन्धु प्रदेश के दक्षिण में मरुभूमि का उल्लेख (ऋ० १०-६३-१५, ८-४६-२९) भी ऋग्वेद में है। डा० अविनाशचन्द्र दास ने यह मत दिया है कि राजपूताने में तब समुद्र था, किन्तु श्री क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय आदि ने इस मत का खण्डन किया है। वास्तव में समुद्र का होना सिद्ध नहीं होता।

वेदों के बाद हम पुराणों में आते हैं। यह तो सर्व-विदित है कि पुराणों का साहित्य तर्क एवं प्रत्यक्ष विज्ञान सम्मत नहीं है। उसे काल्पनिक पुट देकर अत्यधिक बढ़ा-चढ़ाकर रहस्यमय रूप में लिखा गया है। अत: भूगोल का जो वर्णन पुराणों में है वह स्वीकार्य नहीं है। यद्यपि पुराणों की प्राचीनता एवं उन्हें वेदों के सम-सामयिक पाश्चात्य विद्वानों ने भी माना है, किन्तु उनमें समय-समय पर जो परिवर्तन और परिवर्धन हुए हैं, उससे आज के उपलब्ध पुराण प्राचीन रूप में नहीं हैं। लगभग ७०० वर्ष ईसा पूर्व से लेकर १०० वर्ष ईसा पूर्व तक पुराणों का आधुनिक रूप में रचना काल है, तब से अब तक

कोई ऐसे भौगोलिक परिवर्तन भी नहीं हुए, जिससे यह कहा जाय कि पौराणिक भूगोल में अब परिवर्तन हो गये हैं जबकि पुराणेत्तर साहित्य में प्राचीन काल से ही भौगोलिक वर्णन दूसरे रूप में हैं। इससे स्पष्ट है कि पुराणों का भौगोलिक वर्णन रहस्यमय एवं अतिरंजित है। इसी अतिरंजित रूप में विष्णु पुराण, भागवत पुराण ५।१६; गरुड़ पुराण ६४, ५४; वाराह पुराण, ब्रह्म पुराण १८; देवी भागवत ८-४; महाभारत-भीष्मपर्व, कूर्मपुराण, भागवत पुराण ९-१६; मत्स्य पुराण ११३; वायु पुराण ३४; शिवपुराण-ध सं ३३; पद्म पुराण स्व० २, अग्निपुराण ११९; मार्कण्डेय पुराण ५४; में भौगोलिक वर्णन आया है।

पुराणों में यद्यपि सभी समकालीन हैं, तथापि पाश्चात्य विद्वान् प्रो० एच० विल्सन ने विष्णु पुराण का अंग्रेजी अनुवाद कर प्रकाशित करवाया था। जिससे पाश्चात्य विद्वानों के समक्ष इसका महत्व अधिक है और तदनुसार भारतीयों ने भी इसी को प्रमुखता दी है। इस पुराण में सात द्वीपों का वर्णन है, जिसका संक्षिप्त विवरण इस तरह है—

स्वायम्भुव मनु के पुत्र प्रियव्रत ने अपने सात पुत्रों को इन सात द्वीपों का शासन (प्रत्येक को एक द्वीप) पृथक-पृथक दिया था।

१—जम्बूद्वीप—विस्तार एक लाख योजन, इसके बाहर खारा समुद्र। इसका भी विस्तार एक लाख योजन—कुल २ लाख योजन विस्तार। इसके शासक आग्नीध्र थे। इस द्वीप के नौ खण्ड (भाग) थे—भारत, किम्पुरुष हरि, इलावृत्त, रम्यक, हिरण्मय कुरु, भद्राश्व और केतुमाल। इसमें भारतखण्ड ही वर्तमान भारत है—

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणं।
वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः॥

जम्बूद्वीप के प्रसिद्ध वन—चैत्ररथ, गन्धमादन, वैभ्राज और नन्दन। सरोवर—अरुणोद, महाभद्र, असितोद और मानस। पर्वत—मेरु, गन्धमादन, श्वेत, हिमालय, हेमकूट, निषध, शृंगवान, हिरण्यक और रमणक।

२—मेधातिथि का प्लक्षद्वीप—भूमि २ लाख योजन, उसके बाहर मीठा समुद्र (इक्षुरसोद) २ लाख, कुल ४ लाख योजन विस्तार। इसके भी नौ खण्ड, अनेकों पर्वत, नदियाँ आदि हैं।

३—शाल्मली द्वीप—४ लाख योजन भूमि, उतना ही सुरा (मदिरा) समुद्र। कुल ८ लाख योजन विस्तार।

४—कुश द्वीप—८ लाख योजन भूमि, उतना ही घी का समुद्र। कुल १६ लाख योजन विस्तार।

५—क्रौंच द्वीप—१६ लाख योजन भूमि, उतना ही दधि समुद्र। कुल ३२ लाख योजन विस्तार।

६—शाक द्वीप—३२ लाख योजन भूमि, उतना ही दुग्ध समुद्र। कुल विस्तार ६४ लाख योजन।

७—पुष्कर द्वीप—६४ लाख योजन भूमि, उतना ही जल का समुद्र। कुल १२८ लाख योजन विस्तार।

यहाँ पर हमने अन्य द्वीपों के नदी, पर्वत, वन, नौ खण्डों इत्यादि का वर्णन प्रयोजन न होने से छोड़ दिया है, विस्तार से यह पुराणों में देखा जा सकता है। यहाँ पर इन द्वीपों का उल्लेख हमने इस आशय से किया है कि वस्तुस्थिति एवं पौराणिक वर्णन का एक स्थूल आकार स्पष्ट हो जाय। इस तरह सातों द्वीपों को मिलाकर पृथ्वी का आकार कुल २५४ लाख योजन (१ योजन बराबर होता है ९ मील से कुछ अधिक) अर्थात लगभग २३ करोड़ मील का विस्तार होता है। यह तो रहा पृथ्वी का विस्तार, अब इन द्वीपों की स्थिति किस प्रकार थी इसका उल्लेख कर देना भी आवश्यक होगा। गोलाकार पृथ्वी में केन्द्र बिन्दु (उत्तरी ध्रुव) पर मेरु पर्वत था, उसके चारों ओर जम्बू द्वीप था—उल्लेखनीय है कि जम्बू द्वीप भूमध्य रेखा तक था। इसके बाद इतना ही उसका समुद्र, इसके बाद क्रमशः बाहर को प्लक्षद्वीप, उसका समुद्र, शाल्मली द्वीप, उसका समुद्र, कुशद्वीप, उसका समुद्र इत्यादि। इसी तरह सातों द्वीप समुद्र सहित थे। सातों द्वीपों की स्थिति एक कमल-पुष्प के आकार में थी, अर्थात पृथ्वी का आकार एक कमल पुष्प के आकार में था—मध्य मेंमेरु पर्वत और उसके बाहर ७ आवृत्ति में पँखुड़ियाँ थीं। प्रत्येक परत में एक द्वीप था ·· इत्यादि।

इन सब बातों यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त पौराणिक वर्णन में कितना यथार्थ है, और कितना अतिरंजित वर्णन है।

(१) पृथ्वी का जो स्वरूप कहा है, वह नहीं है।

(२) यदि पृथ्वी के वर्तमान ढाँचे के स्वरूप को ही छोटे रूप में मानें तब भी नहीं मिलता, क्योंकि उक्त कथनानुसार मेरु से (ध्रुव से) आधे भूमण्डल

तक अर्थात भूमध्य रेखा तक भूमि का विस्तार माना है, और उतना ही जल। इस तरह भूमध्य रेखा तक भूमि और उसके बाद जल अर्थात सम्पूर्ण पृथ्वी पर जम्बूद्वीप की ही सीमा आती है। तो अन्य द्वीप कहाँ हैं? हमारी पृथ्वी के बाहर अन्य आवरण हैं—यह अस्वीकार्य है, प्रत्यक्ष दृष्ट है—कमल की तरह पृथ्वी के सात आवरण (दल) किसी रूप में स्वीकार्य नहीं हैं।

(३) इसी पृथ्वी पर सातों द्वीप मानने पर जम्बूद्वीप एवं भारत खण्ड उत्तरी ध्रुव से केवल १ अंश दूरी पर होता, और उत्तरी-ध्रुव से दक्षिणी-ध्रुव तक सभी द्वीपों का समावेश हो जाता, क्योंकि अनुपात इसी प्रकार है—

जम्बूद्वीप	—२ लाख	क्रौंच—	३२ लाख
प्लक्ष	—४ लाख	शाक—	६४ ,,
शाल्मलि	—८ लाख	पुष्कर—	१२२ ,,
कुश—	१६ लाख		
			कुल २५८ लाख योजन

उत्तरी-ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक १८० अंश, इस हेतु जम्बूद्वीप और उसका समुद्र ध्रुव केन्द्र से केवल $1\frac{74}{180}$ अंश के भाग में होना चाहिए था।

यह मत यों भी स्वीकार्य नहीं हो सकता, क्योंकि जम्बूद्वीप की भूमि मेरु से भूमध्य तक स्वयं पुराणों में कही है।

(४) दूध, दही घी के समुद्रों का कोई पता नहीं है।

(५) सप्तद्वीप समेत कुल विस्तार २१ करोड़ मील का कहा है, जब कि वास्तविक मान कुल २४,९०० मील ही है।

(६) ग्यारह सौ योजन (९९०० मील लगभग) ऊँचे वृक्ष, निषध जैसे एक लाख योजन (९ लाख मील लगभग) ऊँचे पर्वत आदि अदृश्य ही हैं।

(७) स्वयं पुराणों में भी एक मत नहीं है, नारद पुराण में पृथ्वी का व्यास केवल १६०० योजन कहा है।

(८) यदि दूध, दही के समुद्र कल्पित ही मान लें, तब भी अन्य वर्णन नहीं मिलता। कुछ लोग कहते हैं कि यह योजन के अर्थ उस युग में कुछ और होंगे—यह आधुनिक मान के योजन नहीं हैं। यदि इसे भी स्वीकार कर लें तो भी जैसा कि ऊपर (१), (२), (३), (७), में कहा है तब भी वर्णन ठीक

नहीं बैठता। विष्णु-पुराण में ही 'उत्तरं यत्समुद्रस्य...' भारत का विस्तार नो हजार योजन कहा है। इसको भारत के वास्तविक (लगभग एक हजार मील) योजन की इसी के अनुसार परिभाषा मानने पर भी लगभग २२ हजार मील समुद्र सहित जम्बू-द्वीप आता है। इतनी ही लगभग पृथ्वी की कुल परिधि है। इससे स्पष्ट है कि अन्य द्वीपों का स्थान इस पृथ्वी पर नहीं है।

९ हजार योजन = १ हजार मील

२ लाख योजन = २२ हजार मील

१ योजन = १/९ मील, अथवा ९ योजन = १ मील।

उपर्युक्त तथ्यों से यह निश्चय है कि केवल पुराणों के आधार पर किसी सही निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता है। किन्तु अन्य वैज्ञानिक साहित्य का आधार लेकर पुराणों से कुछ सहायता मिल सकती है, और कुछ नहीं। किन्तु हमारे देश में जो अनुसंधान की परिपाटी है, वह विचित्र है। इनमें एक तो वे लोग हैं, जो पुराणों के कथन को ब्रह्मवाक्य मानते हैं, और उनमें अतिरंजना या कल्पना को कदापि स्वीकार नहीं करते। अतएव वे वाल की खाल निकाल कर उलटे-सीधे किसी प्रकार पौराणिक वर्णन को सिद्ध करना चाहते हैं। और दूसरे वे हैं, जो पाश्चात्यों द्वारा व्यक्त किये गये मतों के आधार से हिन्दी में लिखकर शोधक बन जाते हैं। यद्यपि अनेक पाश्चात्य विद्वान संस्कृत के पारंगत हुए हैं, और उन्होंने भारतीय साहित्य का अच्छा एवं उच्च-स्तर पर अध्ययन किया है, इससे वे भारतीय उच्चकोटि के विद्वानों से किसी प्रकार कम नहीं हैं। उनके प्रति श्रद्धा रखते हुए भी यह तो मानना पड़ेगा कि विदेशी विद्वानों के समक्ष भारतीय साहित्य के सभी विषयों के सभी ग्रंथ सुलभ नहीं होते। जो ग्रंथ उनके सन्मुख आते हैं, उन्हीं के आधार पर वे अपना मत व्यक्त करते हैं—इससे तुलनात्मक एवं सर्वांगीण अध्ययन नहीं होता। एतदर्थ इस बात की आवश्यकता है कि मध्यम मार्ग से संस्कृत साहित्य के विभिन्न विषयों से सम्बन्धित ग्रंथों को देखकर शोधकार्य किया जाय, तभी कुछ निश्चित परिणामों पर पहुँचा जा सकता है।

उदाहरण स्वरूप प्रो० एच० विलसन का विष्णु-पुराण विद्वानों के समक्ष आया, और उसके आधार पर पाश्चात्य विद्वानों ने प्राचीन भूगोल सम्बन्धी खोज शुरू कर दी—और इन्हीं के पथ-प्रदर्शन में प्राच्य विद्वानों ने भी। फल-

स्वरूप अनेक मत व्यक्त किये गये हैं। सभी ने अपनी-अपनी पृथक कल्पनाएँ की हैं, किन्तु यह सभी मत एक भ्रम मात्र हैं। कदाचित् इस विषय में भारतीय साहित्य में उपलब्ध महत्वपूर्ण भूगोल-खगोल सम्बन्धी ग्रंथों की भी सहायता ली होती तो अवश्य पथ-प्रदर्शन होता, और सही स्थिति का पता चलता। सम्भव है पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान इन ग्रंथों की ओर न गया हो। (यद्यपि इन ग्रंथों की पाश्चात्य विद्वानों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है, वे इनसे भली-भांति परिचित हैं—किन्तु सभी विद्वान नहीं) किन्तु भारतीयों को तो इस ओर अवश्य ध्यान देना चाहिए था।

पुराणों के वर्णन को सिद्ध करने की चेष्टाएँ

पुराणों के भौगोलिक वर्णन को सिद्ध करने की कई लोगों ने चेष्टा की है, जो इस प्रकार है। यहाँ पर हम विभिन्न लोगों के मतों का वर्णन करेंगे—

(अ) जम्बूद्वीप—

काश्मीर के उत्तर में एक ही बिन्दु से पर्वतों की ६ श्रेणियाँ निकली हैं—(हिमालय, काराकोरम, कुवेन-लुन, हियेनशान, हिन्दु कुश और सुलेमान)। यही केन्द्र-बिन्दु पुराणों का मेरु है। और उपर्युक्त ६ पर्वत ही जम्बू द्वीप के ६ प्रसिद्ध पर्वत (हिमवात् हेमकूट, निषध, नील, श्वेत, और श्रृंगी) हैं। यह एशिया द्वीप ही जम्बू द्वीप है।। एशिया से अन्य जो द्वीप हैं, वही अन्य ६ द्वीप हैं।

(आ) प्लक्ष-द्वीप—

(१) यूरोप।

(२) एशिया माइनर अरब और पूर्वी रूस।

(३) ग्रीस।

इसका मीठा समुद्र।

(१) अटलांटिक महासागर और कैस्पियन सागर।

(२) एडेन की खाड़ी, भूमध्य सागर का पूर्वी भाग, मारमरा समुद्र, कालासागर, पश्चिमी रूस (रूसी समुद्र), बाल्टिक और श्वेत समुद्र।

(इ) शाल्मली द्वीप—

(१) मिस्र, अबीसीनियां, सोमाली लैण्ड, ब्रिटिश पूर्वी अफ्रीका, ओरंज नदी का दक्षिणी भाग।

(२) बेबीलोनियां।

(३) काला सागर और कैस्पियन सागर के मध्य का भाग।

इसका सुरा-समुद्र :—

(१) ट्रिपोली, पश्चिमी मिस्र, विक्टोरिया न्यांजा, टंगानिका, अलबर्ट न्यांजा, ओरंज फ्री स्टेट।

(२) कैस्पियन सागर।

(३) काला सागर।

(ई) कुश-द्वीप—

(१) सहारा, सूडान, गिनी, बेलजियम कांगो तथा पश्चिम दक्षिण अफ्रीका।

(२) हिन्दुकुश से उत्तर और कैस्पियन तथा अराल समुद्र से दक्षिण का मध्य भाग।

(३) काकेशश।

इसका घृत समुद्र :—

(१) दक्षिणी अटलांटिक, त्रिपोली का कुछ भाग।

(२) अराल समुद्र।

(३) फारस की खाड़ी।

(४) क्रीट टापू वाला समुद्र।

(उ) क्रौंच द्वीप :—

(१) अलजीरिया, मोरक्को, पूर्वी भूमध्य सागर, उत्तरी समुद्र, आयरिश समुद्र और रूसी योरोप।

(२) स्वीडन।

(३) समरकन्द और बुखारा।

(४) पूर्वी तुर्किस्तान और चीन का कुछ भाग।

इसका दधि समुद्र :—

(१) आर्कटिक समुद्र और अटलांटिक का पूर्वी भाग।

(२) अराल समुद्र।

(ऊ) शाक द्वीप :—

(१) अटलांटिक खण्ड और उसके आस-पास जहां अब समुद्र है।

(२) सीथिया प्रदेश।

इसका दुग्ध समुद्र :—

(१) आर्कटिक समुद्र और अटलांटिक का पश्चिमी भाग।
(२) जर्मन समुद्र।

(ए) पुष्कर द्वीप :—
(१) दक्षिणी और उत्तरी अमरीका।
(२) अमरीका के ईशान में जहाँ अब समुद्र है।
इसका जल समुद्र :—
(१) प्रशान्त महासागर था। इत्यादि।*

नामों का मनगढ़न्त अर्थ

कुछ लोगों ने नामों का सादृश्य देखकर ही भौगोलिक कल्पना कर ली है, जैसे—

(१) जम्बू द्वीप के 'भारत' आदि ९ खण्ड थे, इनमें एक 'इन्द्र' भी था, इसी का अपभ्रंश यह 'इण्डिया' है।

(२) काश्मीर का 'जम्मू' ही जम्बू का अपभ्रंश है, इसी के नाम पर जम्बू द्वीप पड़ा।

(३) असीरिया शाक द्वीप है, यहाँ के निवासी 'सिथियन' अर्थात् शक-स्थानीय का अपभ्रंश है। असीरिया के इतिहास में मेदो का उल्लेख आया है (Medas) यह शब्द मन्द का ही अपभ्रंश है।

(४) साइरस (Cyrus) कंबाइसिस (Camleyses) के पुत्र अर्थात् कम्बोज का अपभ्रंश है। 'साइरस' शब्द कुरुस्' से बना।

(५) इलाम प्रांत एवं इलिपि 'इलावृत्त' का अपभ्रंश है।
(६) कैस्पियनसी 'काश्यपीय सागर' है।
(७) पार्थियन शब्द पारद' का अपभ्रंश है।
(८) बावीलोनिया के निवासी 'बर्बर' हैं।

---

* एशियाटिक रिसर्चेज—कर्नल विल्फोर्ड। खण्ड ११।
रसातल आर दि अंडर वर्ल्ड—श्री नन्दलाल डे।
चित्रमय जगत—श्री वडेर का लेख।
पुराण निरीक्षण—श्री काशीनाथ तैलंग काले।
सहविचार—श्री वी० का० राजवाड़े, के० ल० दफ्तरी।
नक्शा—एम० ए० यात्रिक।

(९) यूनानियों के प्राचीन इतिहास में आने वाले पैलेगेसी (palasgie) नाम 'प्लक्ष' का अपभ्रंश है, अतः यूनान और तुर्किस्तान ही प्लक्ष द्वीप था।

(१०) कास्पियन समुद्र और अराल समुद्र के बीच हिन्दकुश से उत्तर कुश द्वीप था। यहाँ के लोगों को असीरिया और बाबीलोनिया निवासी कोसीन (Kosseans) कहते थे। यह शब्द कुश का अपभ्रंश है। कनिष्क, कडफाइसिस, कुशान शब्द 'कुश' का अपभ्रंश है।

(११) रम्यक् या रमणक वर्ष ही 'रोमक' (इटली) है।

(१२) स्कंद द्वारा बसाये गये देश 'स्कंदनाभि' का ही अपभ्रंश 'स्वीडन' है।

(१३) पुष्कर द्वीप में छः मास का दिन और छः मास की रात्रि का पुराणों में उल्लेख है अतः आइसलैण्ड ही पुष्कर द्वीप है। इत्यादि।*

समीक्षा

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वेदों में भौगोलिक वर्णन आंशिक है। अतः उससे किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता। वेदों के बाद पुराणों में अतिरंजित वर्णन है—उसका उल्लेख कर पौराणिक वर्णन की अशुद्धियों और असम्भव बातों का परिचय भी ऊपर दिया जा चुका है। यहाँ पर कुछ लोगों ने सातों द्वीपों को पृथ्वी पर पौराणिक वर्णन तथा नाम-सादृश्य का आधार लेकर सिद्ध करने की जो चेष्टा की है, उसका खंडन हम करना चाहते हैं। क्योंकि उन्होंने जो मत प्रतिपादित किये हैं, वे निराधार एवं मिथ्या हैं।

(१) मेरु पर्वत हिमालय में कैसे माना जाया जाय जब कि मेरु पर्वत ध्रुव का नाम है? इसमें किसी को संदेह नहीं। कदाचित् यह मान लें कि पुराणकार हिमालय को ही ध्रुव मानते हों—यह असम्भव है, क्योंकि पुराणों ने स्वयं कहा है कि 'सूर्य मेरु की परिक्रमा करता है' तो क्या सूर्य हिमालय की परिक्रमा करते दृष्टिगोचर होता है? और यदि वे ध्रुव से परिचित न होते, और हिमालय को ही ध्रुव मानते होते तो सात द्वीपों की पृथ्वी का वर्णन कैसे करते?

(२) हिमालय को ध्रुव मानकर भी क्या उन्होंने पुराणों के निर्देशन पर अन्वेषण किया है? पुराणों के अनुसार एक के बाद एक द्वीप वलयाकार किस

---

* सहविचार—वि० का० राजवाड़े और के० ल० दफ्तरी।
वायुपुराण—रामचन्द्र दीक्षितार।

रूप में थे, इसका चित्र ऊपर दिया जा चुका है। उन्होंने हिमालय को मेरु मानकर उसे तथाकथित एशिया के मध्य में तो दिखलाया है, किन्तु उसके चारों ओर का लवण समुद्र क्या हुआ ? लवण-समुद्र जम्बू द्वीप के चारों ओर था— एक ओर नहीं। और लवण समुद्र के बाहर क्रमशः एक-एक द्वीप और समुद्र उस प्रकार से थे जैसे फूल की पँखुड़ियों की परतें। किन्तु इन अन्वेषकों ने कोई द्वीप पूरब में माना है, कोई पश्चिम में। यह क्यों ?

(३) इस प्रकार अनुमान लगाने वाले भी एक मत हों, ऐसा भी नहीं है। ऊपर हमने विभिन्न मतों को देकर स्पष्ट किया है।

(४) इनका यह कथन कि घृत मधु, दधि, दुग्ध के समुद्र अब सूख गये हैं, यह कैसे सम्भव है ? केवल खारा समुद्र सातों द्वीपों में फैल गया, और समुद्रों का अस्तित्व भी न रहा ?

(५) एक सज्जन का यह कहना कि दुग्ध, घृत, मधु आदि के समुद्रों को अलंकारिक क्यों न मान लें ? समुद्रों को तो अलंकारिक मान लेंगे, किन्तु भूमि का अस्तित्व तो होना ही चाहिए, आगे के वर्णन से इस विचार का खण्डन हो जायगा।

(६) पुराणों में जम्बू द्वीप की भूमि मेरु (ध्रुव) से भूमध्यरेखा तक मानी है, क्या हिमालय को ध्रुव मानकर भूमध्यरेखा अपने ही स्थान पर रहेगी ?

(७) पुराणों के अनुसार जम्बूद्वीप मेरु से इस रूप में नहीं होना चाहिए था। इससे यह सिद्ध है कि पूर्वोक्त अनुमान मिथ्या हैं।

(८) इसके बाद नामों का सादृश्य देखकर अनुमान लगाने वालों की विचार-धारा पर ध्यान देना है। हम यही कहेंगे कि कुछ आधार मिलने पर नामों का सादृश्य ढूंढा जा सकता है, किन्तु निराधार नामों का सादृश्य ढूंढना मूर्खता है, क्योंकि एक नाम के सदृश अनेक नाम हो सकते हैं। क्योंकि अनुमान लगाया है, असीरिया शाक द्वीप है, और उसके इतिहास में Medas नामक जो शब्द आया है, वह शाकद्वीप में वर्णित मेदो के लिए है, इत्यादि। जब तक यह निश्चय न हो जाय कि शाक द्वीप ही असीरिया है, तब तक Medas और Mand में नाम सादृश्य को स्वीकार नहीं किया जा सकता। उदाहरण के हेतु देहली का प्राचीन नाम इन्द्रप्रस्थ है, देहली और इन्द्रप्रस्थ में क्या

समानता है ? इस प्रकार कल को कोई इन्द्रप्रस्थ और इन्दौर में नाम सादृश्य देखकर इन्दौर को ही इन्द्रप्रस्थ सिद्ध करेगा। नामों में समानता रहेगी, यह सोचना भी संदेहास्पद है, क्योंकि पुराने नाम अपने अपभ्रंश रूप में रहेंगे—यह सत्य नहीं है। अपितु नाम ऐसे बदल जाते हैं जिनमें कोई समानता नहीं रहती। स्वयं भारत में पुराण एवं बौद्धकालीन जो नाम नगरों के थे आज उन नामों का क्या अस्तित्व है ? क्या ऐसा अन्यत्र नहीं हुआ होगा ? अतः जब तक द्वीपों का अस्तित्व और उनका स्थान नियत न हो जाय तब तक कोई पता नहीं चल सकता। नाम-सादृश्य लेकर काश्मीर के जम्मू' से 'जम्बू' की कैसी मिथ्या कल्पना की है, तथा इसी तरह सरस्वती के बारे में कैसा भ्रम हो सकता है, इसका उल्लेख आगे किया है।

सप्तद्वीप इस पृथ्वी पर नहीं हैं

सत्य तो यह है कि जिन सप्तद्वीपों का उल्लेख पुराणों में आया है, वे इस पृथ्वी पर नहीं हैं। वास्तव में हमारा यह भूमण्डल केवल जम्बूद्वीप है। अन्य द्वीप मंगल, बुध आदि अन्य ग्रहलोकों के नाम हैं, जैसा कि सप्तग्रहों से सप्तद्वीप और कमलपत्राकृति सात आवृत्ति में सातद्वीपों की कल्पना सौर मण्डल से मिलती भी है। ऐसा कहा जा सकता है कि पुराणकार ने अन्य द्वीपों की भौगोलिक स्थितियों के बारे में कल्पना की है। इस बात को कुछ अन्य लोग भी स्वीकार करते हैं। बर्मन कम्पनी, कलकत्ता से प्रकाशित भाषा विष्णु-पुराण के अनुवादक ने टिप्पणी में यही मत व्यक्त किया है। इसके अलावा इसकी पुष्टि में अनेक महत्वपूर्ण प्रमाण भी प्राप्त हैं—

(१) स्वयं विष्णु पुराण में पृथ्वी की परिभाषा यह दी है—'जितनी दूरी तक सूर्य और चन्द्रमा की किरणें प्रकाश फैलाती हैं, समुद्र, नदी और पर्वतादि युक्त उतने प्रदेश का नाम पृथ्वी है।' वास्तव में सूर्य और चन्द्रमा का प्रकाश केवल हमारी पृथ्वी पर ही नहीं पड़ता, अपितु सम्पूर्ण सौर-मण्डल पर पड़ता है, तब हम केवल इसी भूमण्डल को पृथ्वी मानकर सप्त-द्वीपों की कल्पना क्यों करें ? पुराणों के अनुसार पृथ्वी का तात्पर्य सौर मण्डल से है, अतः पृथ्वी पर सप्तद्वीप हो सकते हैं।

(२) इसकी पुष्टि महाभारत से भी होती है। महाभारत में स्पष्ट उल्लेख आया है कि शाक द्वीप आकाश में वहाँ पर स्थित है, जहाँ पर रेवती नामक नक्षत्र-मण्डल है—

उच्चैर्गिरि रैवतको यत्र नित्यं प्रतिष्ठिता: ।
रेवती दिवि नक्षत्रं पितामह कृतो विधि: ।।

(३) इसी प्रकार जम्बू-द्वीप को छोड़कर अन्य ६ द्वीपों के बारे में कहा गया है कि वहाँ किसी की मृत्यु ही नहीं होती, वहाँ के निवासी अमर हैं, उन्हें भोजन की व्यवस्था नहीं करनी पड़ती, बना-बनाया और परोसा भोजन स्वयं इच्छानुकूल मिल जाता है—

'न तत्र म्रियते जन:
\+ + +
विहरन्ते रमन्ते च न तेषु म्रियते जन: ।
\+ + +
भोजनं चात्र कौरव्य प्रजा स्वयमुपस्थितं ।' इत्यादि ।

किन्तु इस पृथ्वी पर ऐसा कोई प्रदेश नहीं है ।

(४) इसी प्रकार जम्बू-द्वीप का वर्णन करते समय जहाँ संजय ने 'ऐसा है' शब्दों का प्रयोग कर साधिकार कहा है, वहाँ उन्होंने अन्य द्वीपों के वर्णन करते समय 'जैसा मैंने सुना' 'जैसा सुनने में आता है' आदि शब्दों का प्रयोग कर अनिश्चित स्थिति का ही बोध कराया है, जिससे उनका अन्य लोकों में होना निश्चित है । संजय को जो दिव्य दृष्टि मिली थी, उससे वे पूरे भूमण्डल पर प्रत्यक्ष देख सकते थे । किन्तु उन्होंने अन्य द्वीपों को प्रत्यक्ष देखा नहीं—केवल सुनी हुई बातें कहीं—

उत्तरेषु च कौरव्य द्वीपेषु श्रूयते कथा ।
\+ + +
'यथाश्रुतं महाराज'– इत्यादि ।

(५) महाभारत जैसे युद्ध में केवल जम्बूद्वीप के राजा और योद्धा सम्मिलित थे । क्या कारण है कि अन्य द्वीपों का अस्तित्व यहाँ होकर भी एक भी व्यक्ति भी उसमें नहीं था –

यावत्तपति सूर्यो हि जम्बूद्वीपस्य मण्डलम् ।
तावद्देव समायात बलं पार्थिव सत्तम ।।

(६) सप्तद्वीपों एवं दधि, दुग्धादि के समुद्रों का वेदों में कहीं उल्लेख नहीं है ।

(७) पुराणों में भी यद्यपि सात-द्वीपों का वर्णन आया है, किन्तु ऐसा कहीं भी उल्लेख नहीं है कि वे इसी भूमि पर थे। एकमात्र अपवाद स्वरूप भविष्य पुराण ब्राह्म पर्व, अध्याय १३९ एवं अन्यत्र भी श्रीकृष्ण के पुत्र साम्ब द्वारा सूर्य की प्रतिमा स्थापन हेतु शाकद्वीप से ब्राह्मणों को लाने का उल्लेख है। इसके अलावा और कहीं नहीं। यह अंश भी या तो शाक द्वीप के कुछ और अर्थ यहां होंगे, अथवा जम्बूद्वीप के अन्तर्गत आने वाले दूसरे शाक-द्वीप (दुग्ध समुद्र वाला शाकद्वीप नहीं) से इसका प्रयोजन होगा—जिसका वर्णन आगे किया जायगा, अथवा यह भी पुराणों का अतिरंजित वर्णन है। उस समय अन्य लोकों की यात्रा सुलभ थी या नहीं, यह विषय यहां का नहीं है, पर पुराणों में अन्य लोकों की यात्रा का वर्णन तो है ही—राजा दशरथ की शनिलोक पर चढ़ाई, बनवास के समय अर्जुन का इन्द्रलोक गमन इत्यादि। इसी प्रकार शाकद्वीप के ब्राह्मण आने का प्रसंग भी हो सकता है।

(८) स्वयं पौराणिक वर्णन से भी इसकी पुष्टि होती है। मेरु से भूमध्य तक भूमि, और इसके बाद जल, यह एक मोटा स्वरूप है। तथा भारत खण्ड का विस्तार नौ हजार योजन और जम्बूद्वीप समुद्र सहित का विस्तार २ लाख योजन कहा है। यद्यपि योजन की परिभाषा जो भी हो, किन्तु पृथ्वी का विस्तार भारत के विस्तार से लगभग २२ गुना करीब है।

(९) यह तो रही वेद, पुराण और महाभारत की चर्चा, अब हम यहाँ पर भूगोल-खगोल सम्बन्धी विशुद्ध वैज्ञानिक प्रमाण भी उपस्थित करेंगे। जैसा कि मैंने कहा है संस्कृत साहित्य में भूगोल-खगोल सम्बन्धी साहित्य भी है जिससे पर्याप्त प्रकाश एवं सहायता मिल सकती है। यहाँ पर हम विश्व-प्रसिद्ध 'सूर्यसिद्धांत' के कुछ प्रमाण देंगे। यह वही ग्रंथ है, जिसके आधार पर पाश्चात्य विद्वानों को यह स्वीकार करना पड़ा कि ज्योतिष शास्त्र का गुरु भारत ही है। यह ग्रंथ अतीव प्राचीन माना जाता है, और मूलरूप में इसकी रचना सृष्टि के आरम्भ पर मानी जाती है। ईसा से प्रथम शताब्दि पूर्व के अन्य ग्रंथों में इसका पर्याप्त उल्लेख हुआ है। इसी से यह महत्वपूर्ण एवं प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है। इसका अन्य ज्योतिष विषयक वर्णन भी आधुनिक विज्ञान-सम्मत यथार्थ है।

इस ग्रंथ के अनुसार ध्रुव से पूर्व की ओर ९० अंश पर शून्य अक्षांश पर (भूमध्य रेखा पर) भद्राश्वखण्ड में यमकोटि नामक नगर था। इसी तरह ध्रुव से दक्षिण की ओर भारतखण्ड के दक्षिण में भूमध्य रेखा पर लंका

थी (वर्तमान लंका नहीं—आगे स्पष्ट वर्णन किया है)। ध्रुव से पश्चिम की ओर केतुमाल खण्ड में रोमक नामक नगर था—भूमध्य रेखा पर, ध्रुव से उत्तर में कुरुवर्ष में भूमध्य रेखा पर सिद्धपुर नामक नगर था। यह चारों नगर (यमकोटि, लंका रोमक, सिद्धपुर) भी भूमध्य रेखा पर परस्पर ९०-९० रेखांशों की दूरी पर थे। जिस समय भारत में सूर्योदय होता है, उस समय भद्राश्व खण्ड (जहां आजकल प्रशांत महासागर है) में दोपहर, केतुमाल खण्ड (योरोप और अफ्रीका) में अर्धरात्रि और कुरुवर्ष (अमरीका) में सूर्यास्त काल होता है—

भूवृत्त पादे पूर्वस्यां यमकोटीति विश्रुता ।
भद्राश्च वर्षे नगरी स्वर्ण प्राकार तोरणा ।।
याम्यायां भारते वर्षे लंकातद्वन्महापुरी ।
पश्चिमे केतुमालाख्ये रोमकाख्या प्रकीर्तिता ।।
उदक्सिद्धपुरी नाम कुरुवर्षे प्रकीर्तिताः ।
भूवृत्त पाद विवरास्ता अन्योम प्रतिष्ठिता ।।

× × ×

लंका कुमध्ये यमकोटि रस्या,
प्राक् पश्चिमे रोमक पत्तनं च ।
अध स्ततः सिद्धपुरः सुमेरु,
सौम्ये थ याम्ये वडवानलश्च ।।

× × ×

भद्राश्वो परिगः कुर्याद्भारतेतूदयं रविः ।
रात्र्यर्धं केतुमालाख्ये कुरुं अस्तमयं तथा ।।

यह उल्लेखनीय है कि जम्बूद्वीप के नौ खण्डों में ही भद्राश्वखण्ड, केतुमाल खण्ड, भारतखण्ड, कुरुखण्ड नामक खण्ड हैं। इससे सिद्ध हो जाता है कि योरोप, अफ्रीका, प्रशांत महासागर एवं पूर्वी एशिया,, अमरीका तथा एशिया सभी जम्बू द्वीप के ही अन्तर्गत हैं, और यह सम्पूर्ण भूमण्डल जम्बूद्वीप ही है।

(१०) पुराणों के कथानक की तुलना में विज्ञान-सम्मत खगोल-भूगोल सम्बन्धी साहित्य का महत्व अवश्य ही अधिक है। हिमालय को मेरु मानकर एशिया को जम्बूद्वीप मानने वालों ने बिलोचिस्तान और ईरान को केतुमालखंड उत्तरी रूस को कुरु, मंगोलिया को भद्राश्व। किन्तु जब भारत में सूर्योदय होता है तब मंगोलिया में दोपहर, बिलोचिस्तान में अर्धरात्रि और उत्तरी रूस में

सूर्यास्त नहीं होता। और न तो वह स्थान भूमध्य रेखा पर है, न परस्पर ९०-९० रेखांशों की दूरी पर हो।

इन सब तथ्यों से यह सिद्ध होता है कि वह सम्पूर्ण भूमण्डल केवल जम्बू द्वीप है।

जम्बूद्वीप क्यों?

इस पृथ्वी का जम्बूद्वीप नाम क्यों पड़ा? इसके अनेक कारण हैं। जैसा कि पहले कहा है—नाम का सादृश्य देखने वाले लोगों ने काश्मीर के जम्मू नगर के नाम पर ही इसे जम्बूद्वीप और जम्मू को जम्बू का अपभ्रंश मान लिया है। किन्तु यह मिथ्या है। स्वयं पुराणों ने इसका जम्बूद्वीप क्यों नाम पड़ा, इसका वर्णन किया है।

(१) 'तत्र जाम्बू नदं नाम' अर्थात् जम्बू1 नामक नदी होने से इसका जम्बूद्वीप नाम पड़ा।

(२) इस भूमि पर जम्बू2 वृक्ष अधिक थे, अतः जम्बूद्वीप नाम पड़ा—

'सुदर्शनो नाम महान् जम्बू वृक्ष समातनः।'

(३) जम्बू शब्द पानी का पर्यायवाची है। वैज्ञानिकों के कथनानुसार इस पृथ्वी के अतिरिक्त अन्य लोकों में जल की स्थिति बहुत कम है, अतः जल वाली पृथ्वी को ही जम्बूद्वीप कहा गया हो।

(४) झीली एवं दलदली भूमि को जंबाल' कहते हैं। पुराणों में योरोप आदि को 'जम्बू-खण्ड' कहा है शायद वहां पहले दलदली भूमि रही हो। तात्पर्य यह है कि जम्बू के अनेक अर्थ हैं।

किन्तु लोगों ने पुराणों के इस अर्थ पर ध्यान न देकर मनमाने अर्थ लगाये हैं। एक का कहना है कि 'बर्फ के विराट खण्डों को जम्बू, ऊपर की जमी हुई बर्फ को जम्बूफल, सीपों नदी को जम्बूनद, बर्फ वाले द्वीप को जम्बूद्वीप कहा गया है—यह हैं हमारे अन्वेषक ?

जम्बूद्वीप : पुरातत्वविदों तथा भूगर्भवेत्ताओं का मत

इस प्रकार यह निश्चय हो जाने पर कि यह पृथ्वी जम्बूद्वीप ही है, अब निश्चिन्तता से इसके प्राचीन स्वरूप के बारे में अध्ययन करना है। इस सम्बन्ध में भूगर्भवेत्ताओं एवं पुरातत्वविदों के मत इस प्रकार है—

---

1. जम्बू—यमुना, जामुन, पानी (जल)।
2. जम्बू का पुलिंग में अपभ्रंश जामुन और स्त्री लिंग में जमुना है। तब यमुना बड़े आकार में रही होगी।

(१) पृथ्वी के दो भाग थे, अँगारा [उतरी] और गोंडवाना [दक्षिणी]। दोनों के मध्य समुद्र था, इसका नाम 'टेथिस' कहा है तथा टेथिस के उत्तर, पश्चिम आर्कटिक थे। टेथिस के अवशेष ओमन, फारस की खाड़ी और कैस्पियन सागर आदि हैं। उत्तरी भारत में छिछला समुद्र था जो अब हिमालय की मिट्टी से भर गया है दक्षिणी भारत, दक्षिणी अमरीका, अफ्रीका आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड परस्पर मिले थे। यूरोप और अफ्रीका भी मिले थे। अरब सागर और हिन्द महासागर के स्थान पर भूमि थी।

(२) स्मिथ महोदय के मत से अमरीका और योरोप में पहले तुषार था। प्रख्यात मरुस्थल सहारा और गोबी समुद्र में थे।

(३) हक्सले महोदय के मत से ब्रिटिश द्वीपपुंज, मध्य योरोप और उत्तर एशिया समुद्र थे। अराल और कैस्पियन सागर एक ही थे, और इनके जल का सम्बन्ध उत्तर में आर्कटिक सागर तथा पश्चिम में भूमध्यसागर से था।

(४) मलाया आदि द्वीप एशिया में थे। मंगोलिया समुद्र में था।

(५) ग्रेटब्रिटेन का दक्षिणी भाग योरोप से मिला था, इंगलिश चैनल का पता न था। इंगलैण्ड, स्काटलैण्ड और आयरलैण्ड एक में थे। बम्बई और पंजाब के कुछ प्रदेश जलमय थे।

(६) भारत और लंका के बीच समुद्र की चौड़ाई आठ गुनी थी।

(७) हिन्द महासागर में अटलांटिक नामक देश था। जावा, सुमात्रा, मेडागास्कर आदि द्वीप इसी के अवशेष हैं। हिमालय, विन्ध्याचल आदि इतने ऊँचे न थे।

इस प्रकार आप देख रहे हैं कि इस क्षेत्र में भी विद्वान एक मत नहीं हैं। यथासम्भव सभी ने अपने अपने मत की पुष्टि की है। इस अवस्था में कौन मत लिया जाय और कौन नहीं, संशयात्मक है। अतः हम पाश्चात्य एवं प्राच्य शोधकों, भूगर्भविदों, पुरातत्ववेत्ताओं, वेदों, पुराणों, भूगोल-खगोल सम्बन्धी ग्रंथों और इतिहास सम्बन्धी महाभारतादि का आश्रय लेकर किसी निश्चय पर पहुँचने का प्रयत्न करेंगे।

अंगारा और गोंडवाना

जिस प्रकार आज पृथ्वी पूर्वी और पश्चिमी दो गोलार्धों में विभक्त है, उसी तरह पहले उत्तरी और दक्षिणी दो भागों में विभक्त थी—पुरातत्ववेत्ताओं के इस मत से हम सहमत हैं, क्योंकि भारतीय भूगोल-खगोल सम्बन्धी ग्रंथों में भी इसका उल्लेख मिलता है।

'उपरिष्ठास्थितातद्व सेन्द्रादेवामहर्षय: ।
अधस्ताद्सुरास्तद्वद हिमन्तोऽन्योन्यमाश्रिता: ।।
तत: समन्तात्परिधि क्रमेणायं महार्णव: ।
मेखलेवस्थितो धात्रादेवासुर विभागकृत ।।

और इसके साथ ही मध्यवर्ती टेथिस समुद्र की भी पुष्टि होती है। किन्तु पुरातत्ववेत्ताओं ने जिस रूप में कल्पना की है, उसमें आंशिक हेर-फेर है। पश्चिम में वर्तमान भूमध्यसागर भी उसी टेथिस का अवशेष है, और वह वर्तमान टर्की, कैस्पियन सागर और फारस से होकर अरब सागर (वर्तमान) से होकर था।

इसके साथ ही कुछ विद्वानों का यह मत कि उत्तरी भारत तथा राजपूताने में छिछला समुद्र था अथवा हक्सले का यह मत कि उत्तरी एशिया में महार्णव था—सही नहीं है। वास्तव में भारत के मध्य से समुद्री विभाजन नहीं था। और टेथिस समुद्र भारत के दक्षिण से होकर जाता था। वेदों में अंग (उड़ीसा), काशी, वग (बंगाल), मगध (बिहार), कोशल (अवध) आदि जनपदों के नाम आये हैं, जिससे यहां उत्तरी-भारत में समुद्र का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, अपितु वैदिक काल से ही यहां तक राज्य थे। पुराणों में भी भारत की परिभाषा—

'उत्तर यत् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणं,

अर्थात समुद्र से उत्तर और हिमालय से दक्षिण कहा है, इससे भी भारत के दक्षिण में ही समुद्र सिद्ध होता है। इसके अलावा तब उत्तरी भारत में यमुना

नदी सबसे बड़ी नहीं थी जिसके नाम पर ही इस पृथ्वी को जम्बूद्वीप कहा गया है। भूगोल-खगोल में भी कहा है—

'अनेक रत्ननिचयो जाम्बूनद मयो गिरि' इत्यादि। मलाया, बोर्नियो आदि द्वीप समूह भी उत्तरी भाग में थे, यहां पर सुमात्रा आदि द्वीप और आस्ट्रेलिया के दक्षिण में समुद्र था। अफ्रीका और द० अमरीका दक्षिणी भाग में थे, पर इनसे दक्षिणी भारत मिला न था। जैसा कि एक मत है—हिन्द महासागर में अटलांटिक नामक प्रदेश था—इसकी सम्भावना है, किन्तु इस विषय में कोई प्रमाण प्राप्त नहीं है। उत्तरी और दक्षिणी भारत की संस्कृति एवं लिपियों में कुछ भेद होने से यह अनुमान लगाया जाता है कि दक्षिणी भारत के लोग टेथिस समुद्र से दक्षिणवर्ती अटलांटिक प्रदेश की आसुरी संस्कृति के प्रभाव में आये हों।

जापान एवं चीन का भूभाग १६५° पूर्व तक और दक्षिण में भूमध्यरेखा तक विस्तृत था—जहां पर आजकल मार्शल, गिल्बर्ट आदि द्वीप हैं। इसके दक्षिण में समुद्र था। इसका विस्तार से अन्यत्र वर्णन किया है।

सभी दक्षिणी भू भाग परस्पर मिले थे या नहीं, इसकी पुष्टि नहीं होती, किन्तु उत्तरी भाग परस्पर मिले थे। उत्तरी अमरीका और एशिया ध्रुव प्रदेश से परस्पर मिले थे—और इनका आपस में ध्रुव प्रदेश से भूमि सम्बन्ध था। इसके बीच समुद्र का कोई अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। इससे यह मत भी सही नहीं जान पड़ता कि तब उत्तरी एशिया में महार्णव था। प्रशान्त-महासागर उन दिनों भी विद्यमान था—किन्तु वह अपने वर्तमान आकार में नहीं था। भद्राश्ववर्ष और कुरु के मध्य समुद्र का उल्लेख आया है—वेदों में इसे पूर्व-समुद्र कहा गया है, शृंगी पर्वत के उत्तर में इसकी स्थिति थी, और पश्चिम में अन्ध या अटलांटिक महासागर भी कुछ परिवर्तित रूप में विद्यमान था। इसे वेदों एवं पुराणों में पश्चिम समुद्र कहा गया है। ऋग्वेद (१०।१३६।५) आदि में पूर्व-समुद्र और अपर (पश्चिम) समुद्र का उल्लेख है। वेदों में कुल चार समुद्रों का वर्णन आया है, ऋग्वेद (९।३३।६, १०।४७।२ आदि) 'चतुः समुद्राः'—पर यह चार समुद्र कहां पर थे? इस विषय पर डा० अविनाशचन्द्र दास आदि ने भारत के चारों तरफ चार समुद्रों की कल्पना की है—किन्तु प्रमाणों के अभाव में सभी विद्वानों ने इस मत का खण्डन किया है कि वेदोक्त पूर्व-समुद्र बंग समुद्र नहीं था—तब वह कौन था? इसका निर्णय करने में वे स्वयं असमर्थ रहे हैं। वास्तव में वेदोक्त चार समुद्र निम्न हैं, जिनकी

पुष्टि इतिहास, पुराण, स्मृति, वेद, भूगोल-खगोल सम्बन्धी एवं पुरातत्व से होती है—

[१] पूर्व समुद्र (प्रशांत महासागर)।
[२] अपर समुद्र (अन्ध महासागर)।
[३] मेखला समुद्र (भूमध्य सागर या टेथिस)।
[४] दक्षिण समुद्र (दक्षिणी समुद्र)।

यूनानी और वैदिक आर्य संस्कृतियों का सम्बन्ध

भूगोल सम्बन्धी इस अन्वेषण से कई नई बातों का भी पता चलता है। यूनानी और आर्य संस्कृति में मूलभूत समानता क्यों है? और विरोध क्यों है? आर्य सभ्यता-पुरानी है या यूनानी? इत्यादि विषयों पर—जो अभी अनिर्णीत है—नये तथ्य प्रकाश में आते हैं। इस विषय पर प्रकाश डालने से पहले आर्यों के आदि स्थान का निर्णय कर लेना भी आवश्यक है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं जल-प्रलय के समय नौका के द्वारा हिमालय में मानव वंश बचा था—और उसी से यह सम्पूर्ण सृष्टि हुई। वैदिक साहित्य में वर्णित नदियाँ भी हिमालय की ही हैं सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् नृतत्वविद् सर आर्थर कीथ और जे, बी० हालडेन ने भी यही मत व्यक्त किया है कि मानव-जाति की उत्पत्ति हिमालय से हुई। किन्तु हिमालय से वह कहाँ को और कैसे फैली, इस पर विचार करना है। वेदोक्त नदियों में गंगा, यमुना, सरस्वती वितस्ता, विपाशा, शतद्रु आदि कुछ तो भारत में हैं। किंतु परुष्णी, असिक्नी, मरुद्वृधा, आर्जिकीया, सुषोमा, तृष्टोमा, सुसर्तु, रसा, क्रुमु, श्वेती, कुभा, मेहत्नु आदि नदियाँ यहाँ नहीं हैं। कुछ लोगों ने इन नदियों के वर्तमान नाम वैदिक वर्णन के आधार पर इस प्रकार से निर्धारित किये हैं—

परुष्णी (इरावती या रावी), असिक्नी (चिनाव), तृष्टोमा (चिएलकी), सुसर्तु (सुवास्तु), रसा (रहा), श्वेती (अर्जुनी) क्रुमु (कुरंम), गोमती (गोमल), कुभा (काबुल), आदि। यदि इन्हें मान लिया जाय तो बहुत सी वेदोक्त नदियाँ फिर भी छूट जाती हैं। वे कहाँ हैं, और आजकल उनका क्या नाम है, इसका निर्णय करना कठिन है। कुभा आदि नदियों के ये नाम स्वीकार योग्य हैं, और इन्हें स्वीकार कर लेने पर काबुल, अफगानिस्तान, बिलोचिस्तान आदि प्रदेश भी आ जाते हैं—जहाँ मानव जाति क्रमश: फैली और वेदों की रचना हुई। सप्तसिन्धु और कुरु शब्दों के आधार पर सिन्ध एवं पंजाब प्रांत,

देहली आदि का पता चलता है। अनेक नदियों के नाम न मिलने से, ऋग्वेद में वर्णित लड़ने वाले और न लड़ने वाले व्यक्तियों तथा ऋषियों के नामों में सादृश्य होने से (ग्रीक और भारतीय साहित्य में) कुछ लोग पश्चिमी एशिया एवं काले समुद्र से लेकर हिमालय तक भूमध्य प्रदेश के निकटवर्ती (भूमध्य सागर के दोनों किनारों) प्रदेश को आर्यों का निवास-स्थान मानते हैं।

पुरातत्वविदों के अनुसार मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा के उत्खननों से सिंधु घाटी की सभ्यता और प्राचीन असीरिया, बाबीलोन की सभ्यता में परस्पर सम्बंधों का होना कहा जाता है। पारसी धर्मग्रंथ जेन्द अवस्था के आधार पर विद्वानों ने वैदिक आर्यों और प्राचीन ईरानी साम्राज्य के संस्थापकों का मूल वंशधर एक ही होना माना है और बाद में मतभेदों के कारण दो परस्पर भिन्न संस्कृतियों का उदय हुआ। सन् १९०७ में जर्मन अन्वेषक श्री ह्यूगो विक्लेयर को एशिया माइनर की खुदाई में बोगाजकोई नामक स्थान पर खुदाई में जो ईंटें मिली हैं उन पर हिटीटे और मिटानी राजाओं के बीच हुई संधि खुदी है जिसमें संधि की शर्तें हैं। उनमें उनके साथ मित्र, वरुण, इन्द्र, नासत्य आदि वैदिक देवताओं के नाम भी खुदे हैं। इन सब बातों से ईरान, योरोप और हिमालय के आर्यों का परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। यह पुरातत्व एवं इतिहास की सामग्री है।

भारत, आर्यावर्त और हिन्दुस्तान

आर्य लोग हिमालय से जहां-जहां फैले उस पूरे क्षेत्र का नाम आर्यावर्त था। मनुस्मृति एवं पुराणों में आर्यावर्त की परिभाषा पूर्व समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र तक के मध्यवर्ती क्षेत्र को कहा है—

आ समुद्रात्तु वै पूर्वं आ समुद्रात्तु पश्चिमम्'

किन्तु बाद में पुराणों एवं स्मृतियों के अनुवादकों और अमर कोषकार ने भारत तथा अन्य संस्कृतियों में विरोध देखकर आर्यावर्त की संकीर्ण परिभाषा की है—

'आर्यावर्तः पुण्यभूमिः मध्यं विन्ध्य हिमालयोः'

अर्थात् हिमालय से दक्षिण और विन्ध्याचल के उत्तर का प्रदेश आर्यावर्त है। जिसमें पूर्व समुद्र बंग और पश्चिम समुद्र अरब मान लिया गया—किन्तु यहां सभी विद्वान एकमत से इस बात पर सहमत हैं कि वैदिक पूर्व और पश्चिम समुद्र बंग तथा अरब सागर नहीं है। वास्तव में पूर्वोक्त पूर्व और पश्चिम समुद्रों का

अभिप्राय प्रशान्त और अन्ध महासागरों से है। इससे सिद्ध हो जाता है कि चीन जापान से लेकर योरोप तक (मध्य एशिया, हिमालय, भारत, भूमध्य सागर कि तट) के पूरे क्षेत्र का नाम आर्यावर्त था जहाँ हिमालय से आर्य लोग फैले।

भारतवर्ष का प्राचीन नाम 'भारत' ही मिलता है। कालान्तर में इसे 'आर्यावर्त' भी कहा गया लेकिन इसका प्रचलन नहीं हुआ। आश्चर्य की बात है कि आज भारत को 'हिन्दुस्तान' के नाम से भी जाना जाता है लेकिन भारत में इस्लाम के प्रवेश के पहले कहीं भी 'हिन्दुस्तान, हिन्दू और हिन्दी का उल्लेख नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि इस्लाम धर्मावलम्बियों ने पूरब के मूर्ति पूजकों को 'हिन्दू' उनके देश को हिन्दुस्तान' और भाषा को हिन्दी नाम दिया होगा। केवल शब्द कल्पद्रुम में (मेरुतंत्र पर आधारित) 'हिन्दू' शब्द मिलता है लेकिन यह ग्रंथ प्राचीन नहीं है।

आधुनिककाल में विद्वानों ने हिन्दू शब्द की अनेक प्रकार से व्याख्या की है। लोकमान्य बालगंगाधर तिलक के अनुसार :—

आसिन्धो सिन्धु पर्य्यान्ता यस्य भारत भूमिका।
पितृभू पुण्यभूश्चैव सवै हिन्दू इति स्मृतः ।।

अर्थात् पूर्ण समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र तक जो भारत भूमि है। इसे पवित्र और पितृभूमि (जन्मभूमि) मानने वाले हिन्दू हैं।

कुछ लोगों का कहना है "हिंसयादूयते चित्तंयस्य स हिन्दूः" अर्थात् हिंसा से जिसका मन द्रवित व दुखी हो वह हिन्दू है। एक मत यह भी है कि हिमालय से सिन्धु पर्य्यन्त (हि+न्धु=अपभ्रंश में हिन्दू) की भूमि में रहने वाले हिन्दू हैं। श्री रामदास गौड़ आदि कुछ लेखकों के मत से 'सप्तसिन्धु' से 'हप्तहिन्दू'=हिन्दू शब्द बना है, क्योंकि पारसी भाषा में (जो वैदिक भाषा का ही एक अंग है) 'स' को 'ह' कहा जाता है, अतः पारसियों ने यह नाम दिया होगा। लेकिन उपरोक्त सभी कल्पनायें मात्र हैं, कोई ठोस प्रमाण नहीं है। फारसी भाषा में हिन्दू[1] का अर्थ चोर, डाकू, गुलाम, काला और हिन्दुजन[2] का अर्थ जादूगरनी, कुलटा डायन आदि दिया गया है।

1–जवाहर उल गुलात फारसी, ले० विश्वम्भर दयाल, रामनारायण लाल पब्लिशर, इलाहाबाद द्वितीय संस्करण, पृ० १७३ मुद्रक–नेशनल प्रेस, इलाहाबाद।

2–लुगात ए किशोरी, नवल किशोर प्रेस, लखनऊ १९८१ संस्करण पृ० ८२१/२२।

देव और असुर

आज विश्व में यूनानी, भारतीय और चीनी यही तीन प्राचीन संस्कृतियां मानी जाती हैं—इसका भी यही कारण है। अद्यावधि यूनान समर्थक कुछ लोग यूनानी संस्कृति को प्राचीन मानकर मानवजाति का उत्पत्ति एवं विकास स्थल यूनान को मानते थे और भारत समर्थक भारत को। किन्तु यह केवल खींचतान एवं चर्चा का अनर्थ मात्र है। वास्तव में—जैसा कि सर आर्थर कीथ और जे० बी० हाल्डेन ने कहा है—मानव जाति की उत्पत्ति हिमालय एवं सीमांत प्रदेश में हुई, और वहां से वे योरोप, चीन, भारत को फैले—यही सत्य है। हमारे इस कथन की पुष्टि भूगोल-खगोल के ग्रंथों से भी होती है—

> उपरिष्ठाद्स्थितातस्य सेन्द्रादेवा महर्षयः।
> अधस्तात्वसुरा स्तद्द्विषन्तोन्योन्यमाश्रिता ॥
>
> मेखलेवद्स्थितो धात्रादेवासुर विभागकृत्।
> ततः समन्तात्परिधिः क्रमेणायं महार्णवः ॥

अर्थात् उत्तरी भाग में (भूमध्य सागर के) इन्द्र, महर्षि और देव लोग रहते हैं, और दक्षिणी भाग में असुर यह दोनों परस्पर द्वेष एवं शत्रुभाव पूर्वक रहते हैं। इन दो भागों (देव भाग और असुर भाग) को विभक्त करने वाला इनके मध्यवर्ती मेखला (जंजीर) के रूप में समुद्र है। यह एक स्पष्ट और यथार्थ वर्णन है। इससे सिद्ध है कि बाद में धार्मिक मतभेदों से वैदिक संस्कृति दो भागों में विभक्त हो गई। भूमध्य सागर के उत्तरी भाग वाले उस आर्य संस्कृति को अपनाते थे, जिसको दैवी संस्कृति कहा जाता था और भूमध्य सागर के दक्षिण वासियों ने भिन्न संस्कृति अपना ली थी—जिसे आसुरी संस्कृति कहते थे। उत्तर वासी अपने को 'देव' कहते थे तथा दक्षिणवासियों को असुर कहा जाता था। बाद में दोनों संस्कृतियों के बीच द्वेषवश युद्ध भी हुए होंगे। ऊपर हमने हिटीटे और मिटानी राजाओं की जिस संधि का उल्लेख किया है वास्तव में यह संधि भूमध्य सागर के उत्तर वासी और दक्षिणवासी राजाओं के बीच हुई होगी। विशेषकर असीरिया के वासी 'असुर' शब्द को बड़ी उपाधि मानते थे—इससे भी इस मत की पुष्टि होती है।

पुराणों में भी गन्धमादन (योरोप का वर्णन देखें) आदि के निवासियों को जो 'देव' शब्द से सम्बोधन किया गया है उसका भी यही कारण है। तब

उत्तरी भाग के निवासी मानव ही 'देव' कहलाते थे अथवा यों कहें कि रंगभेद का चक्र उसी समय से चल रहा है—तब भी उत्तरी भाग के लोग अपने को दक्षिणी प्रदेश के मानवों की अपेक्षा उच्च मानते थे। किन्तु तब दक्षिणवासी भी सबल थे; यह निश्चित है। यहाँ तक कि कुछ काल तो प्रह्लाद, बलि आदि असुरों का ही सर्वत्र साम्राज्य रहा।

आर्य और आसुरी संस्कृति में परस्पर मित्रता के प्रयत्न भी हुए हैं। आर्य राजा ययाति ने असुरों के राजा वृषपर्वा की कन्या से विवाह किया था। ऋग्वेद में 'शिव' उस जाति का नाम है जो दाशराज युद्ध में सम्मिलित हुई थीं—इस आधार पर कुछ लोग शिव को गौरांग होकर पहले 'गौरी (सती) व पुन: 'पार्वती (काली)' से विवाह कर दो जातियों में एकत्व का संस्थापक माना है। जिस प्रकार यूनानी साहित्य में देवगणों और मानवगणों की नाम में समानता है, उसी प्रकार वैदिक साहित्य में भी देवगणों और मानवगणों के नामों में सादृश्य है। आर्य संस्कृतियों में 'दैवी' और 'आसुरी' का यह विभाजन कब हुआ, इसका उल्लेख भी छन्दोग्योपनिषद आदि में मिलता है। जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह विभाजन बहुत पूर्व इन्द्र एवं वैरोचन के काल में (सृष्ट्यारंभ से सत्तरह लाख वर्षों के अन्दर ही) हो गया था। इससे यह भी पता चलता है कि अपने देह को ही आत्मा या ईश्वर मानने वाले असुर कहलाये और ईश्वर का पृथक अस्तित्व मानने वाले देव कहलाये। इससे स्पष्ट है कि नश्वर देह को ही सर्वस्व मानने वाले 'असुर' थे।

ऋग्वेद के (१।११६।४-५) अनेक स्थलों पर समुद्री यानों का उल्लेख है। इसी प्रकार (१।२५।७) वशिष्ठ और वरुण का एक साथ नौका में समुद्र-विहार का उल्लेख है। पुरातत्ववेत्ताओं ने भी यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि वैदिक प्राचीन भारत से बेबीलोन तथा फिनलैण्ड आदि तक समुद्र मार्ग से व्यापार होता था। जिससे भूमध्य सागर में तब समुद्री यानों से उत्तरी और दक्षिणी भाग में आवागमन की पुष्टि होती है।

नाम सादृश्य और सप्तसिन्धु

नामों के सादृश्य को देखकर भूगोल का निर्धारण नहीं हो सकता, यह हम पहले कह चुके हैं, इसी के सम्बन्ध में कुछ और कहना है। गंगा, यमुना को छोड़कर अन्य कई वेदोक्त नदियों के नाम आज बदल गये। प्रसिद्ध सरस्वती नदी आज पुष्कर के पास लुप्त हो गई, यह पुराणों के आधार पर किम्वदन्ती है। किन्तु वेदों में गंगा, यमुना और सरस्वती यह तीनों नदियाँ हिमालय से निकलने

वाली हैं, तथा आज ऐसी कोई भी नदी नहीं है, जो हिमालय से निकल कर पुष्कर में लोप होती हो। उल्लेखनीय है कि गंगा, यमुना, सरस्वती तीनों साथ-साथ ही निकलकर प्रथम दो पूर्ववाहिनी तथा सरस्वती पश्चिमवाहिनी थी। बहुत से लोगों का यह विचार भी है कि वेद में जो 'सिंधु' शब्द आया है वह सिंधु नदी के हेतु है, किंतु अन्य विद्वान यह मानते हैं कि 'सिंधु' शब्द नदी का विशेषण मात्र है, तथा किसी भी नदी के हेतु प्रयोग किया जा सकता है। इस बात को श्री क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय आदि ने भली-भांति सिद्ध किया है। यों तो वेदों में 'सिंधु' शब्द 'सागर' का बोधक भी है, 'जातवेदसे०, 'अद्यादेवा०' आदि अनेक ऋचाओं में 'सिंधु' शब्द समुद्र के रूप में आया है, किंतु अनेक स्थलों पर नदी के विशेषण के रूप में भी सिंधु शब्द है, किसी नदी विशेष का नाम बोधक नहीं। एतदर्थ श्री चट्टोपाध्याय जी के मत से मैं पूर्णतः सहमत हूं, साथ ही उनका यह कथन भी सत्य है कि वेदोक्त सरस्वती नदी ही वर्तमान 'सिंधु' है। वेदों में नदियों के लिये सिंधु' स्रवत, नद्य' आदि शब्द प्रयोग में आये हैं। वेदों के 'सप्त सिंधु' शब्द से अनेक को भ्रम हुआ है—सम्भव है, पुराणकारों ने भी इसी आधार पर सप्त-समुद्रों की कल्पना कर ली हो। किंतु वेदों में सप्त-समुद्रों का कहीं उल्लेख नहीं है, अपितु इसके विपरीत 'चतु समुद्रा' कई स्थलों पर आया है।

वास्तव में 'सप्त-सिंधु' शब्द उत्तरी भारत की ७ प्रसिद्ध नदियों के हेतु प्रयोग में आया है [५ सरस्वती (सिंध) की सहायक नदियां, गंगा और यमुना]* उत्तरी भारत का इन नदियों के नाम पर ही सप्तसिंधु नाम पड़ा है। वेदों में सप्तसिंधु की तरह ही कई स्थलों पर 'सप्तस्रवतः' शब्द भी आया है इससे सप्त सिंधु का प्रयोग ७ नदियों के रूप में होना निश्चित है। बाद में सरस्वती का नाम सिंध हो गया, पंजाब प्रांत के हेतु पांचाल' शब्द आया है। इस क्षेत्र में सरस्वती की ५ सहायक नदियां बहती हैं इसी हेतु इसे 'पंचनद' भी कहा गया है। वर्तमान सिंध ही वैदिक सरस्वती है—इसकी पुष्टि के हेतु स्वयं वेद की यह ऋचा काफी है—

पंचनद्यः सरस्वती अपियंति सस्रोतसः।
सरस्वती तु पंचधासो देशे भवत सरित्॥

अर्थात् पांच सहायक नदियों वाली सरस्वती अपने और भी सहायक नदियों, स्रोतों के साथ पांच शाखाओं में इसमें बहती है। अब बतलाइये

* प्रयाग में भी गंगा, यमुना व अदृश्य सरस्वती का संगम माना गया है।

सरस्वती सिंध नहीं है तो और कौन है ? और कहाँ लुप्त हो गई है ? उल्लेख-नीय है कि सरस्वती कोई साधारण नदी नहीं मुख्य नदी थी—

'इमम्मे गंगे यमुने सरस्वती॰

उसका अस्तित्व कैसे समाप्त हुआ ? निःसंदेह वर्तमान सिंध ही सरस्वती है, इस प्रकार सरस्वती का निश्चय हो जाने पर दृषद्वती' का भी पता चल सकता है—

दक्षिणेन सरस्वस्या दृषवस्युत्तरेण च ।
ये वसंति कुरुक्षेत्रे ते वसंति त्रिविष्टपं ।।

इससे पता चलता है कि सरस्वती के दक्षिण और दृषद्वती के उत्तरवर्ती प्रदेश का नाम कुरुक्षेत्र था । इससे कहा जा सकता है कि जयपुर की पहाड़ियों के निकट सांभर झील से निकल कर कच्छ की खाड़ी में गिरने वाली नदी ही दृषद्वती है ।

नामों के सादृश्य से भौगोलिक कल्पना कभी नहीं की जा सकती है, पंजाब के पंचनदों के समान ही मध्य भारत में भी पांच नदियाँ हैं ।

नदियाँ		पंजाब में		मध्य भारत में
(१)	—	सिन्ध	—	सिन्ध
(२)	—	व्यास	—	वासन
(३)	......	चिनाव	......	चम्बल
(४)	......	सतलज	......	सोन
(५)	......	झेलम	......	टोंस

दोनों के नामों में कितनी समानता है ? अतः नाम सादृश्य से अनुमान लगाने पर अर्थ के स्थान पर अनर्थ हो जाता है । कदाचित् कोई अरावली (आबू) को आर्यावर्त और इन पंचनदों को ही वेदोक्त पंचनद न मान लेवें ।*

---

* श्री वी॰ लोकलिंगम् पिल्ले महोदय ने अपने ग्रंथ में लिखा है कि अब से लगभग १०,००० वर्ष पहले तक पूर्वी अफ्रीका से लेकर सुदूर पूर्व तक (जहाँ अब भारत महासागर है) एक महाद्वीप तथा अनेक छोटे बड़े द्वीप थे, जो गोंडवाना नाम से प्रसिद्ध था। लगभग ७,५०० वर्ष पूर्व इस महाद्वीप के समुद्रमग्न हो जाने से इस द्वीप के वासी जो सुरनों और वेलनों के नाम से प्रसिद्ध थे, पहले भारत में और बाद में भारत से यूरोप व रूस आदि में जा बसे ।

भारतखण्ड या एशिया

जम्बूद्वीप के मेरु से दक्षिणी भू-भाग का नाम भारतखण्ड था, जो आज एशिया नाम से प्रसिद्ध है। भारतखण्ड के ही एक भाग का नाम भारतवर्ष है। लंका से उत्तर और हिमालय के दक्षिण इसके मध्यवर्ती क्षेत्र का नाम भारतवर्ष है। जिस पर्वतमाला को आजकल छोटा हिमालय कहा जाता है उसका प्राचीन नाम हिमवान है—सम्भवतः गौरीशंकर (एवरेस्ट) तक के क्षेत्र का नाम हिमवान है। इस हिमवान से उत्तर-पश्चिम में हेमकूट (कैलाश) नामक पर्वत था। हिमवान और हेमकूट के मध्यवर्ती क्षेत्र का नाम किम्पुरुष वर्ष था। हेमकूट की परिभाषा में कहा है—

'हेमकूटस्तु महान् कैलाशो नाम पर्वतः'

अर्थात् कैलाश पर्वत ही हेमकूट है। इसकी स्थिति मानसरोवर, जिस को पुराणों में विन्दुसर भी कहा गया है, के पार्श्व में बतलाई है जैसा कि अब भी वास्तव में है—

'रम्यं बिन्दुसरो नाम यत्र राजा भगीरथः'

अतः स्पष्ट है कि छोटे हिमालय और कैलाश पर्वत के मध्यवर्ती प्रदेश का नाम किम्पुरुष वर्ष था। नैपाल का उत्तरी भाग, तिब्बत का पठार, कुमायूं आदि पर्वतीय क्षेत्र इसमें आते हैं। आजकल कुमायूं को कूर्माञ्चल का अपभ्रंश माना जाता है, किन्तु संस्कृत साहित्य में कूर्माञ्चल शब्द नहीं है। पुराणों में पृथ्वी को कछुवे (कूर्म) की पीठ की तरह मानकर उसका एक अञ्चल (छोर) इस आशय से लोगों ने कूर्माञ्चल संज्ञा स्वतः दी है। भले ही कुमायूं किम्पुरुष से बना हो या कूर्माञ्चल से, किन्तु उसका प्राचीन नाम किम्पुरुष वर्ष ही है। हेमकूट अथवा कैलाश से लेकर उत्तर में ६५ अक्षांश तक के प्रदेश का नाम हरिवर्ष था। तब भी हरिवर्ष शीत-प्रधान रहा होगा, अथवा जनसंख्या कम रही होगी, एतदर्थ इसकी उतनी प्रसिद्धि नहीं हुई।

हिमालय के स्थान पर समुद्र की धारणा

कुछ पुरातत्व वेत्ताओं का अनुमान है कि जहाँ आजकल हिमालय है;

पहले वहाँ पर समुद्र था। उत्तरे हिमवत् पार्श्वे क्षीरोदो नाम सागरः; इत्यादि इसी आशय के कुछ उल्लेख यद्यपि पुराणों में भी उपलब्ध हैं किन्तु इसे अरबों वर्ष पहले स्वीकार किया जा सकता है। जिस भूगोल की हम चर्चा कर रहे है, उस समय ऐसा नहीं था। हिमालय के स्थान पर समुद्र का अस्तित्व कम से कम २१,६५,०६० वर्षों से नहीं है। इस तथ्य को अनेक पुरातत्व वेत्ताओं ने स्वयं स्वीकार किया है, और जे० बी० हालडेन तथा अन्य विद्वानों ने वर्तमान सृष्टि का श्रीगणेश हिमालय से माना है।

शतपथ ब्राह्मण (१-८-१-६) में जल प्रलय के समय मनु की नौका को मत्स्य द्वारा वहन एवं रक्षण की कथा है। मनु की नाव उत्तर गिरि (हिमालय) के पास रुकी थी। मनु की नाव रुकने के कारण उस स्थान का नाम 'मनो र-व सर्पण' पड़ा जो अब मानसरोवर हो गया है। यह घटना उस समय की है, जब आज से लगभग २१,६५,०६० वर्ष पूर्व पृथ्वी पर जल प्रलय हुआ था, और उसमें मानव वंश ही का क्या अपितु समस्त जीवों का महाविनाश नाश हो गया था। हिमालय तब भी ऊँचा था, और उस जल-प्रलय में कुछ मानवों ने नौका के द्वारा हिमालय का आश्रय लिया था। उन बचे मानवों से ही यह वर्तमान मानवी सृष्टि हुई। जैसा कि मैंने अन्यत्र लिखा है, मूलरूप में मानव वंश अति प्राचीन है। इससे सिद्ध होता है कि हिमालय के पास समुद्र कम से कम— १२,०५,३३,०६२ वर्ष से पहले रहा होगा।*

इसके अलावा वैदिक साहित्य में हिमालय क्षेत्र का विस्तृत वर्णन है। यह उल्लेखनीय है कि वेदों में हिमालय के अलावा अन्य किसी भी क्षेत्र का इतना विस्तृत वर्णन नहीं है। पुराणों में तो विश्व के भद्राश्व (पूर्वी भाग), केतुमाल (योरोप व अफ्रीका), कुरु (अमरीका), भारत (एशिया), सभी का विस्तार से वर्णन है, पर वेदों में नहीं। ऋग्वेद में जो नदियों की नामावली आयी है, उनमें से अधिकांश हिमालय एवं उसके पास में हैं। सरस्वती सिन्धु विपाशा (व्यास) शतद्रु (सतलज), गंगा, यमुना, दृषद्वती, परुष्णी, असिक्नी, वितस्ता (झेलम), मरुद्वृधा, आर्जिकीया, सुषोमा, तुष्टोमा, सुसर्तु, रसा, श्वेता, ऋमु (कुर्रम), गोमती (गोमल), कुभा (काबुल) मेहत्नू आदि अनेक नदियों का ऋग्वेद में उल्लेख आया है। इनमें से अधिकांश हिमालय से निकली हैं। इससे वैदिक काल में भी हिमालय का इसी रूप में अस्तित्व सिद्ध होता है।

* डा० सम्पूर्णानन्द ने भी 'आर्यों का आदि देश' शीर्षक अपनी पुस्तक में उत्तर प्रदेश, राजस्थान, बिहार में छिछला समुद्र माना है।

वेदों में हिमालय के लिए अधिकांशत: हिमवत शब्द आया है, शायद यही प्राचीन नाम हो। कुछ लोगों का विचार है कि पहले विश्व में यत्र तत्र हिम था, अत: हिमवत शब्द किसी भी क्षेत्र के लिए आ सकता है, किन्तु यह उनका भ्रममात्र है। पूर्वोक्त नदियों की उपस्थिति से हिमालय की ही पुष्टि होती है। सिन्ध गंगा, यमुना, सरस्वती उसकी प्रसिद्ध नदियाँ थीं।

वैदिक साहित्य में 'मूजवत' नामक पर्वत का उल्लेख भी आया है। इस पर्वत पर प्रसिद्ध वैदिक वनस्पति सोम होता था। यह पर्वत कहाँ पर था, अन्यत्र इसका वर्णन मिलता है—

'गिरे: हिमवत: पृष्ठे मुञ्जवान् नाम पर्वत: ।
तप्यते तत्र भगवान तपोनित्यमुमापति: ।।

इस कथन से छोटे हिमालय (हिमवत) के पृष्ठ अर्थात् उत्तर में इसका होना सिद्ध होता है तदनुसार क्यूनलुन पर्वत अथवा तिब्बत का पठार ही मूजवान सिद्ध होता है। वैदिक साहित्य में सोमयाग आदि के अवसर पर सोमवल्ली को विधिवत् खरीदने का वर्णन है। सोमवल्ली को उसके विक्रेता से मुँहमाँगा मूल्य देकर लिया जाता था जैसे --गाय, हाल में प्रसूता गाय, बछिया या बछड़ा सहित गाय, गाड़ी खींचने योग्य समर्थ बैलों का जोड़ा गाय और बैल का जोड़ा, बकरियाँ, वस्त्र, सोना आदि। इससे उस काल में इसका महत्व स्पष्ट हो जाता है। सोमरस के स्वाद की तुलना प्राय: अमृत से की गई है। तिब्बती व्यापारी एवं लामा लोग तिब्बत पर चीनी प्रभुत्व के पहले एक सूखी और स्वादिष्ट वनस्पति को बेचने के लिए उत्तराखण्ड में लाते थे जिसे साम्प्रत में 'जम्बू' कहा जाता है। अच्छेमूल्य पर या अनाज के विनिमय से देते थे। प्राय: उत्तराखण्ड के प्रत्येक गृहस्थ के यहाँ यह वनस्पति मसाले के रूप में प्रयोग होती थी। कुछ विचारकों की राय में यही वैदिक सोम है। मूजवत तथा हिमालय के अतिरिक्त 'सुदर्शन', क्रौञ्च' तथा 'मैनाक' पर्वतों का नाम भी आया है (तै॰ आ॰ १।३१)। सुदर्शन पर्वत के बारे में कहा गया है कि सूर्य उसकी परिक्रमा करता है। इससे सुदर्शन पर्वत को सभी विद्वान् उत्तरी ध्रुव में मानते हैं, जो कभी रहा होगा। मैनाक पर्वत को अन्यत्र ग्रंथों में कैलाश पर्वत से उत्तर में माना है। तुलसीदास ने इसे दक्षिण समुद्र में छिपा कहा है जो उनकी अपनी कल्पना है। पुराणों में वर्णित इन्द्र के भय से मैनाक का समुद्र में आश्रय लेना रहस्यमय वर्णन है। पुराणों की कल्पना का यही सार है कि मैनाक कैलाश से उत्तर में हो रहा होगा, जो बाद में प्राकृतिक

कारणों से भूमिष्ठ हो गया। मैनाक से उत्तर में हिरण्यश्रृंग था जहाँ सुवर्ण था। यहीं से पाण्डव स्वर्ण लाये थे। विद्वानों का मत है कि तिब्बत क्षेत्र के 'थोकज्यङुङ्' नामक स्थान पर—जहाँ सोने की खाने हैं—यही हिरण्यश्रृंग है। वर्तमान तिब्बत के लिए वेदों एवं पुराणों में कहीं पर 'त्रिविष्टप' शब्द भी आया है। क्रौञ्च पर्वत भारत से उत्तर में था—

'क्रौञ्चो मेरुः कुरवोस्तथोत्तराः'

इसका अपभ्रंश वर्तमान नाम 'कोकोनर' है, जो उत्तरपूर्वी तिब्बत म है। इन सब तथ्यों से हिमालय की विद्यमानता सिद्ध हो जाती है।

भारतवर्ष

वैदिक वर्णन की अपेक्षा पुराणों तथा महाभारत में भारतवर्ष का कुछ विस्तार से वर्णन है, जो सर्वविदित एवं विशद है, एतदर्थ उसका वर्णन यहाँ करना प्रयोजनहीन है। महेन्द्र, मलय (मलयगिरि), सह्य (सह्याद्रि), शुक्तिमान् (शक्तिवान या शाशुचवा—वर्तमान बर्मा में,) और पारियात्र (पैरोपेमिसिस), ऋक्षवान (सतपुरा), विन्ध्य पर्वतों का उल्लेख मिलता है। हिमालय से निकलने वाली नदियों के अलावा भारत की अन्य कुछ प्रसिद्ध नदियाँ ये थीं—ताप्ती; पयोष्णी (पूर्णा अथवा प्राणहिता—द० हैदराबाद), निर्विन्ध्या (वर्धा) ये ऋक्षमान से निकली थीं। गोदावरी, भीमरथी (भीमा), कृष्णावेणी (कृष्णा) सह्याद्रि से निकली थीं। कृतमाला (कावेरी), ताम्रपर्णी (पनेर) मलय गिरि से और इरावती (वर्तमान बर्मा में) और कुमारी (कुसियार—पू०पाकिस्तान में) आदि शुक्तिमान से निकली हैं। इनके अलावा पुराणों में तो हजार से अधिक नदियों एवं लाखों जनपदों के वर्णन हैं। सरस्वती (सिन्ध) की सहायक नदियों में शतद्रु (सतलज), वितस्ता (झेलम), विपाशा (व्यास) के नाम वेद तथा पुराणों में एक ही हैं। रावी को पुराणों में रेखा तथा चिनाव को चन्द्र-भागा भी कहा गया है।

वेदों में अनेक जनपदों के नाम भी पाये जाते हैं, जैसे अंग (उड़ीसा), अंघ (आन्ध्र), कम्बोज (काबुल), काशी, कीकट, कुरु (कुरुक्षेत्र), कोशल (अवध), गान्धार (सीमाप्रांत), नैषिध, पंचाल (पंजाब), पुण्ड्र (बिहार का भाग) वल्हीक (बाह्लीक), भरत, मगध (विहार), मत्स्य (द० उत्तर प्रदेश), मद्र, उत्तर मद्र, बंग (बंगाल), विदेह, विदर्भ (मध्यभारत) आदि। इससे वैदिक आर्यों के भौगोलिक ज्ञान का पता चलता है। वैदिक काल के बाद पुराणों में जो जनपदों

की सूची है, वह अति दीर्घ है। ईसा के समकालीन संस्कृत-साहित्य में जनपदों के जो नाम हैं उनमें बौद्धधर्म की छाप है। सभी जनपदों के नाम बौद्ध नामों से मिलते हैं। जैसे विलोचिस्तान को विलोचन, सिन्ध प्रान्त को सिन्धु, उड़ीसा को उत्कल, कौंकण, महाराष्ट्र को महाराष्ट्र तथा गोड़, मालवा को मालव, कालिकट को तालिकट, केरल को केरल, अफगानिस्तान को अपरान्तक कहा गया है। वैदिक साहित्य, पुराण, बौद्धकालीन साहित्य और वर्तमान नामों की कड़ियों को जोड़ कर प्राचीन जनपदों के सही नामों का पता लगाया जा सकता है, एवं इन्हीं आधारों पर से विद्वानों ने बहुत से जनपदों का निश्चय भी किया—जो ग्राह्य हैं, नाम निरन्तर बदलते रहते हैं, और उन नामों में कोई सादृश्य भी नहीं रहता, ऐसी स्थिति में वैदिक एवं पौराणिक जनपद का आजकल क्या नाम है इसका निर्धारण नाम सादृश्य देखकर नहीं किया जा सकता। उदाहरण के हेतु पश्चिमी उत्तर प्रदेश का नाम वैदिक युग में अन्तर्वेद था, पता नहीं मध्य में क्या-क्या नाम परिवर्तन हुए, फिर रुहेलखण्ड बना, फिर संयुक्त प्रान्त और आज उत्तर प्रदेश। इत्यादि।

ईसाकालीन संस्कृत साहित्य में पश्चिम में 'तुषारताल' का उल्लेख है—आज उसके क्या अर्थ लगाये जायें? शायद अराल सागर या बालकन झील से प्रयोजन है। ऐसे ही पश्चिम में 'स्त्री-राज्य' का वर्णन है—महिलाओं का साम्राज्य तब कहाँ होगा, आज क्या कहा जा सकता है? तात्पर्य यह है कि नाम सादृश्य से स्थान का निर्धारण नहीं हो सकता। यह एक पृथक शोध का विषय है। अधिकांश जनपदों के नाम तो उन देशों में बसने वाली जातियों के नाम पर थे।

किम्पुरुष और हरिवर्ष

भारतवर्ष के बाद इसके अन्तर में किम्पुरुष वर्ष का उल्लेख पहले कर चुके हैं, कहीं पर इसका नाम 'हिमवत वर्ष' भी आया है—शायद हिमवत पर्वत पर होने के कारण। राहुल सांकृत्यायन ने किम्पुरुष वर्ष को किन्नर देश कहा है।

'इदं तु भारतवर्षं ततो हेमवतं परम्'

पुराणों के अनुसार इस प्रदेश में सुन्दर वन था, जिसे 'प्लक्षखंड' कहा जाता था। इसके फल स्वादिष्ट होते थे। स्त्रियों के देह से कमल के समान सुगन्धि निकलती थी।

इसके आगे के उत्तरी प्रदेश को हरिवर्ण कहा है—

'हेमकूटात्परं चैव हरिवर्षं' प्रचक्षते'

कैलाश शिखर से उत्तर का प्रदेश हरिवर्ण था। इसके बारे में कहा गया है कि वहाँ के लोग चाँदी के समान गोरवर्ण के होते हैं। वहाँ वृद्धावस्था नहीं आती अर्थात् वृद्ध होने तक मनुष्य युवक (युवकों के समान ही कर्मठ) ही रहते हैं (शीत-प्रधान होने से प्रकृति का यह गुण है)। जन-जीवन के बारे में कहा गया है कि किम्पुरुष वर्ष और हरिवर्ष में प्रजा बड़े आनन्द से रहती है, उसे किसी प्रकार का भय नहीं सताता। वहाँ लोगों में कोई ऊँच-नीच या छोटा-बड़ा नहीं होता है (इस कथन से जाति भेद रहित एवं वर्णभेद रहित समाज का पता चलता है) पुराणों में अन्यत्र भी यह कहा गया है कि वर्ण-व्यवस्था केवल भारत में है। इससे यह पता चलता है कि पुराणों के काल में भी वर्ण-व्यवस्था केवल भारत में रह गई थी, अन्य देश वृषल अर्थात् (वैदिक संस्कृति न मानने वाले हो गये थे)। इन वर्षों में भूमि से ही यथोचित जल मिलता है, किन्तु भारत में वर्षा के जल से काम चलता है। (शीत देश होने से हिम ही जल का काम देता है, और गर्म देश की तुलना में जल की इतनी आवश्यकता भी नहीं होती है, वास्तव में वर्षा होती भी कम है, भारत की औसत वर्षा ६० इंच तक है, जबकि रूस में १० इंच। अतः यह वर्णन भी यथार्थ है)। इन वर्षों के लोगों को कुछ प्राकृतिक सिद्धियाँ उपलब्ध हैं—वार्क्षी (इच्छाशक्ति—कार्य करने में रुचि), स्वाभाविकी, देश्या (प्राकृतिक दृष्टि से रक्षा में, उन्नति में, सहायक), तोयोत्था (जल संबंधी), मानसी और कर्मजा (काम करने की शक्ति—शीत प्रधान देश होने से कार्यशक्ति स्वाभाविक है)। इन देशों में पाप पुण्य की भी कोई व्यवस्था नहीं है, और न आधि (मानसिक चिन्तादि), व्याधि (शारीरिक रोग) का भय ही रहता है।

पुराणों का यह वर्णन अधिक नहीं तो कम से कम २०० वर्ष ईसा पूर्व का तो है ही, परन्तु नास्तिक, कर्मठ, शीतप्रधान रूस देश जैसे साम्यवादी देश का आधुनिक वर्णन सा प्रतीत होता है। भले ही, कितने परिवर्तन हो जायें, राष्ट्र के मूलभूत गुण किसी न किसी रूप में विद्यमान अवश्य रहते हैं, जिससे उसकी सांस्कृतिक विशेषताएं नये और पुराने युग की कड़ियों को जोड़े रहती हैं। इस प्रदेश का अन्य विस्तृत भौगोलिक वर्णन नहीं मिलता, सम्भवतः शीत प्रधान होने से तब जनसंख्या बहुत कम रही होगी।

भारतवर्ष का शाकद्वीप

'शक' और 'शाक' शब्द में भी अनेक भ्रम हैं जैसा कि ऊपर कह आये हैं। पुराणोक्त दुग्ध-समुद्र वाला 'शाकद्वीप' इस पृथ्वी पर नहीं है। किन्तु भारतवर्ष के ही अन्तर्गत 'शाकद्वीप' 'क्रौञ्चद्वीप' नामक छोटे द्वीपों का पता चलता है। क्रौञ्चद्वीप भारत के दक्षिण में अब समुद्र में मग्न है और शाकद्वीप सौराष्ट्र का नाम है, अथवा उसी के पास कोई अन्य द्वीप रहा होगा। विद्वानों का मत है कि पुराणों में सूर्य-प्रतिमा स्थापन हेतु शाकद्वीप के ब्राह्मणों का साम्ब द्वारा लिवा लाना सौराष्ट्रीय ब्राह्मणों को ही लिवा लाना था। तब द्वारिका भी सौराष्ट्र से पश्चिम एक द्वीपाकार ही थी जो अब समुद्र में निमग्न है। कच्छ के वासी चातुर्वर्ण्य नष्ट हो जाने से अभोज्य बने और 'भोजक' कहलाने लगे। उन्हीं के नाम पर कालान्तर में 'भोजकच्छ' और 'भोजकट' नाम पड़ा।

शाकद्वीप नाम भी वंश विशेष के आधार पर ही पड़ा। वहाँ के निवासी 'शाक' नाम से प्रसिद्ध थे। यह उनकी जाति को प्रतिनिधित्व करता है, न कि वर्ण को। वास्तव में ये भारतीय संस्कृति के ही उपासक थे किन्तु कुछ विशेषता या भेद अवश्य था। इनके भी चार वर्ण मग, मशक, मानस और मंदग जो क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णों के ही समान थे।

इतिहास से पता चलता है कि शाकद्वीप (सौराष्ट्र) से पाश्चात्य आक्रमणकारियों (मुगलों, मुहम्मद गोरी आदि) के आक्रमण काल में यहाँ के कुछ निवासी चारों वर्ण हिमालय की ओर चले गये और वर्तमान उत्तराखंड के जिलों में बस गये। इन पहाड़ी जिलों में (पिथौरागढ़, चमोली आदि) जो आज वहाँ रहते हैं उनमें ८० प्रतिशत यही 'शाक' हैं, जिन्हें अब 'शौक' अथवा भोटिया कहा जाता है। यहाँ 'डोटी' आदि कई राजधानियाँ इनकी अवशेष हैं। यहाँ आने पर इस प्रदेश पर इन्हीं का आधिपत्य रहा। सौराष्ट्र के मशक (क्षत्रियों) ने यहाँ आकर डोटी में अपना राज्य स्थापित किया। वे अपने साथ मग, मानस और मन्दगों को भी लाये। इसी तरह अन्य स्थलों पर भी ये लोग आये। यद्यपि ये लोग हिन्दू धर्म को अपनाते हैं, इनमें बहुत से ब्राह्मणों की तरह जनेऊ भी धारण करते हैं, संध्योपासन भी करते हैं, फिर भी इनकी संस्कृति में पृथक रीति-रिवाज हैं—रहन-सहन भिन्न है। बहुत से शौक लोग अपने को क्षत्रिय मानते हैं, कुछ वैश्य मानते हैं, कुछ लोग हिन्दुओं की तरह अस्पृश्य भी हैं। जोहार परगने के लोग अपने को उच्च मानते हैं,

शिक्षित भी हैं और दारमा परगने के पिछड़े हैं। वास्तव में शाक-वंश के खग (ब्राह्मण), और मशक (क्षत्रिय) अपनी सत्ता और बुद्धि-बल के कारण उन्नति कर चुके हैं, और वे इस प्रदेश के महाराष्ट्रीय, कान्यकुब्ज एवं राजपूत जातियों में भली भांति मिल चुके हैं, जिससे 'शाक' के रूप में इनका पृथक अस्तित्व आज नहीं के बराबर है। किन्तु मानस (वैश्य) और मन्दग (शूद्र) आज भी उसी रूप में हैं। ये लोग तिब्बत से तथा मैदानी भागों से भेड़ों के द्वारा व्यापार तथा भेड़-पालन एवं ऊनी शिल्प-कार्य से जीवन-निर्वाह करते थे।

कुछ भिन्न संस्कृति के कारण कुछ समय से इतिहासज्ञों एवं लेखकों के लिए यह रोचक विषय बन गया है। तिब्बत से व्यापार होने के कारण इनमें कुछ तिब्बती संस्कृति के अंश भी आ गये हैं, जिसके आधार पर बहुत से लोग इनका सम्बन्ध तिब्बत, भूटान आदि से जोड़ते हैं। यह केवल भ्रान्ति ही है, क्योंकि ये स्वयं अपने को हिन्दू मानते हैं। कुछ लोग इनकी मुखाकृति को देख कर इन्हें पाश्चात्य आक्रमणकारी शक' अथवा मंगोल वंश के मानते हैं, परन्तु इनकी यह आकृति तिब्बत से मिले इस भूभाग में शताब्दियों से रहने से स्वय बन गई है। यह प्रकृति का गुण है, और अवश्यम्भावी है, जैसा कि राहुल सांकृत्यायन ने भी लिखा है—

'कुमायूं गढ़वाल और किन्नर के तिब्बती सीमान्तों पर जो हमारे भाई आज मंगोल मुख-मुद्रा में ही नहीं, कितने ही भाषा में भी, मिश्रित या शुद्ध रूप से तिब्बती पाये जाते हैं वे यहाँ छठी शताब्दी तक ऐसे नहीं थे।'

कुछ लोगों ने इन्हें हिन्दू समाज से पृथक् करने की असफल चेष्टा भी की है, जो एक राजनीतिक षड्यंत्र मात्र है। 'शाक' लोग सूर्य के उपासक थे। आज भी इनके यहाँ सूर्य की उपासना मुख्य है। शाक द्वीप से जो मानस नामक वैश्य वर्ण इस प्रदेश में आया यों तो कई स्थानों पर बसा, किन्तु मुख्य स्थान 'मानस-ग्राम' कहलाया, जो अब अपभ्रंश 'माना ग्राम' कहा जाता है, और इसके निवासी 'मोरछा' या 'मारछा' कहलाते हैं, जो मानस का ही स्वरूप है। इन लोगों की कुछ बस्तियां तो ११ हजार से लेकर १९ हजार फीट की ऊँचाई तक हैं। कुछ लोगों का तो यह कहना है कि महान विजेता सिकन्दर से लड़ने वाला कूर्माञ्चल का वह राजा पुरु' इन्हीं के वंश का रहा होगा, जिसका उल्लेख प्रसिद्ध इतिहासकार फरिश्ता ने किया है। शाके (सम्वत्) का

प्रतिष्ठापक सम्राट कौन था ? क्या इसके प्रवर्तक शालिवाहन (सातवाहन) 'शाक-वंशीय' थे, यह विचारने योग्य विषय है ।

लंका और सिंहल

वर्तमान लंका रावण की तथाकथित लंका नहीं है यद्यपि उसमें रामायण (तुलसी, वाल्मीकि) के स्थलों को दर्शाया गया है, दोनों के मध्य सेतुबंधरामेश्वर की स्थापना भी हो चुकी है, किन्तु प्राच्य और पाश्चात्य दोनों विद्वान एक मत से यह स्वीकार करते हैं कि रावण की लंका वर्तमान लंका नहीं है । सम्भवत: रावण की लंका नष्ट होने पर (प्रकृति से) वहां के निवासियों ने लंका में शरण ली हो, और तभी से उसका नाम लंका हो गया हो । अथवा लंका के जलमग्न हो जाने पर भारतवासी—भारत के दक्षिण में लंका है—इस अभिप्राय से सिंहल को ही लंका कहने लगे हों ।

पुरातत्ववेत्ता भी इस बात को मानते हैं कि भारत के दक्षिण में बहुत से द्वीप पहले थे । महाभारत सभापर्व में उल्लेख है कि पाण्डवों ने दक्षिण स्थित ताम्रद्वीप पर भी विजय प्राप्त की थी । यह ताम्रद्वीप कौन है ? महाभारत में एक अन्य स्थल पर दक्षिण के जनपदों का वर्णन करते हुए लंका और सिंहल दो पृथक जनपद बतलाये हैं । यूनानी लेखकों ने सीलोन को 'ताम्रोवन' कहा है । अत: कुछ लोगों का विचार है कि ताम्रद्वीप ही सिलोन का प्राचीन नाम है; बाद में उसका नाम सिंहल हुआ (बौद्ध धर्म के प्रचार से सिंहल' शब्द उसी के अनुरूप है) किंतु महाभारत ही में एक स्थल पर ताम्रद्वीप और एक स्थल पर सिंहल शब्द आना दोनों द्वीपों का पृथक अस्तित्व सिद्ध करता है । कुछ इसे लंका के पूर्व में मानते हैं । कल्किपुराण में भी लंका, सिंहल, ताम्रलिप्ति आदि द्वीपों का (भारत के दक्षिण में) वर्णन है । ईसा के समकालीन साहित्य में दक्षिण के जनपदों में—

> 'अथ दक्षिणेन लंका··· क्रौञ्चद्वीप · धर्मपट्टन द्वीपा ··
> सिंहल · विज्ञेया'1

लंका, कौञ्चद्वीप, धर्मपट्टन द्वीप, सिंहल का उल्लेख है, इससे भी सिंहल और लंका दो पृथक द्वीपों का अस्तित्व सिद्ध होता है । द्वीपों के नाम आज बदल गये हैं—क्रौञ्चद्वीप (पुराणों का कौञ्च महाद्वीप नहीं है), धर्मपट्टन द्वीपों का आज क्या नाम है, और वे हैं भी या नहीं—कुछ पता नहीं है । अत:

---

1. बृहत्संहिता ।

यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पुरातत्ववेत्ता हिन्द महासागर में जिस भूभाग लेमूरिया की कल्पना करते हैं (कहा जाता है कि अफ्रीका से एक भूभाग भारत के दक्षिण होकर दक्षिणी अमरीका तक मिला था) उसी के अस्तित्व स्वरूप कुछ द्वीप ताम्रद्वीप, कौञ्चद्वीप, धर्मपट्टन द्वीप आदि दो हजार वर्ष पूर्व रहे होंगे।

ईसा के समकालीन साहित्य में लंका और सिंहल दोनों का पृथक अस्तित्व यह सिद्ध करता है कि उस समय तक लंका के अवशेष विद्यमान होंगे, अथवा ये लोग लंका के बारे में जानते होंगे।

ईसा की नवीं शताब्दी में रचित 'बाल रामायण' नामक ग्रंथ उपलब्ध है। इसकी यह विशेषता है कि इसके लेखक ने सम्पूर्ण भारत की यात्रा करने के उपरांत इस ग्रंथ को लिखा था। इसमें भी एक स्थान पर लंकापति रावण और सिंहलपति का सम्वाद है, अत: लंका और सिंहल दो पृथक द्वीप थे।

लंका द्वीप कहाँ पर था, इसके सम्बन्ध में वाल्मीकि रामायण में कहा है—

'शतयोजन विस्तीर्ण पुप्लुवे लवणार्णवम्।

अर्थात हनुमान ने सीता की ढूंढ में लंका जाते समय सौ योजन विस्तीर्ण लवण समुद्र को लांघा था। एक अन्य स्थल पर—

द्वीपस्तस्यापरे पारे शतयोजन विस्तृत:।
सहिदेशस्तु मध्यस्य रावणस्य दुरात्मन:॥

अर्थात् यहां से सौ योजन दूरी पर दूसरी तरफ का द्वीप रावण का देश है योजन के मान के बारे में अनेक मत मतान्तर हैं, लेकिन सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक गणित ग्रंथ सूर्यसिद्धांत में पृथ्वी की परिधि ४९६७ योजन कही है। आधुनिक मान में पृथ्वी की परिधि २४९०० या २५००० मील है तदनुसार स्थूल रूप से १ योजन लगभग ५ मील होता है। इस तरह १०० योजन का अर्थ लगभग ५०० मील दूरी हुई। अर्थात् भारत के समुद्र तट से लंका द्वीप लगभग ५०० मील में दक्षिण में स्थित था।

यह भी संभव है कि वर्तमान लंका पुरा-काल में भारत का ही अंग रहा हो।

पुराकाल में लंका को ज्योतिर्वैज्ञानिकों ने गणना का मुख्य स्थल माना था। लंका ठीक भूमध्य रेखा पर थी। यहाँ से जो खड़ी रेखा देशांतर जाती थी (वर्तमान में ७५ देशांतर पूर्व) उसे मध्य रेखा माना था—लंका को इसी

हेतु चुना गया कि यह स्थान पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण के ठीक मध्य में था, तथा इस स्थान से ९०-९० अंश की दूरी पर भूमध्य रेखा पर ४ द्वीप या भूभाग स्थित थे—यमकोटि (प्रशांत महासागर में), सिद्धपुरी (अमरीका में) रोमक (अफ्रीका में) और स्वयं लंका-भूमध्य रेखा पर था, इसलिए वहाँ दिन-रात हमेशा बराबर होते थे।

'भूवृत्त पाद विवरातास्न्योमप्रतिष्ठिता:'
लंका कुमध्ये यमकोटिरस्या
प्राक् पश्चिमे रोमक पत्तनं च।
अधस्तत: सिद्धपुर: सुमेरु,
सौम्ये थ याम्ये वडवानलश्च ।।'

यह भी उल्लेखनीय है कि प्राचीन लंका की स्थिति वर्तमान ७५ देशांतर रेखा पूर्व पर थी, जब कि वर्तमान लंका द्वीप ७६ से ८२ देशांतर रेखा के मध्य स्थित है।

उसके उत्तर या दक्षिण में दिनमान या रात्रिमान और सूर्योदय जानने के लिये संस्कार किया जाता था—

लंकोदया········घटत उत्क्रमत: स्विमेस्यु:'

यद्यपि आज लंका का अस्तित्व नहीं है, तथापि भारत के जितने भी पँचांग-गणना के सिद्धांत हैं उनकी गणना लंका को भूमध्य रेखा पर मानकर ही की जाती है, और आज के पँचांगकार वर्तमान ७५ अंश पूर्व (ग्रीनविच से) रेखा जहाँ भूमध्य रेखा को काटती है उसे काल्पनिक लंका मानकर गणना करते हैं। अपने देश की गणना करते समय यह नहीं देखा जाता कि वह भूमध्य रेखा से कितनी दूर है—अपितु यह देखते हैं कि लंका से कितनी दूरी पर है। वर्तमान समय में जैसे ग्रीनविच को मध्यरेखा मानते हैं—तब जब भारतीय ज्योतिष उन्नत अवस्था में था—लंका से उज्जयनी होकर जाने वाली रेखा (वर्तमान ७५° पूर्व) को ही मध्यरेखा मानते थे—

पुरी राक्षसी (लंका) देवकन्याथकांची:
सित पर्वतो पर्वबो वत्स गुल्मो।
पुरीचोजयिन्यां ह्वया गर्गराठ,
कुरुक्षेत्र मेरुर्भुवो मध्यरेखा ।।

उस मध्य रेखा में राक्षसी पुरी लँका, देवकन्या (कन्या-कुमारी अन्तरीप), कांची, उज्जयनी (उज्जैन), कुरुक्षेत्र, गर्गराठ (गिलगित-काश्मीर) मेरु (ध्रुव) सितपर्वत (श्वेतपर्वत—दूसरी ओर १०५ अंश पश्चिम—अमरीका में—यह उस समय विपरीत दिशा में १८० अंश पर आता था) वत्स और गुल्म पर्वत (अमरीका के ही कोई पुराने नाम हैं) आते थे। इस प्रकार लँका उस समय—पूर्व-पश्चिम रेखा में भी भूमध्य पर थी—और उत्तर-दक्षिण रेखा में भी।

नामों की समानता देखकर कुछ लोग वर्तमान लँका द्वीप को ही लँका मानते हैं। एक तो यह दक्षिण में नहीं है, और उतनी दूर भी नहीं है—और न भूमध्य रेखा पर ही है, अतः लँका द्वीप वह नहीं है और न मालद्वीप ही लँका है।

रामायणकार के कथन को (५०० मील दूरी) यदि हम कल्पना भी मान लें, तो ज्योतिष शास्त्र के उस वैज्ञानिक साहित्य को, जिसके आधार पर पाश्चात्यों ने भी भारत को ज्योतिष का गुरू माना है, भुलाया नहीं जा सकता। वास्तव में भारत के दक्षिणी छोर से भूमध्य रेखा की दूरी लगभग इतनी ही होगी, अतः रामायणकार का कथन भी सही ज्ञात होता है।

सोने की लँका के बारे में रामायण आदि से कुछ प्रकाश तो पड़ता है, किन्तु अन्य दक्षिणी प्रदेश के बारे में संस्कृत साहित्य में कोई उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु इतना तो निश्चित है कि मानव वँश का विस्तार उत्तरी भाग से ही हुआ था—बाद में सांस्कृतिक मतभेदों से वे 'असुर' व 'राक्षस' कहलाये। और उत्तरी तथा दक्षिणी संस्कृतियों का विभाजन हो गया। रावण को ऋषि पुलस्त्य का वंशज कहा गया है, जो प्रसिद्ध आर्य-ऋषि थे और कर्मणा रावण राक्षस हुआ। जन्मना ब्राह्मण ही था। इससे प्रकट होता है आर्यों ने अपने सांस्कृतिक नियमों का उल्लंघन करने वालों को 'असुर' नाम से सम्बोधित किया था। आर्यों ने जिसे अपने समाज से पृथक कर दिया, वही असुर हैं।

निषध प्रदेश

मेरू से दक्षिणी भाग में हरिवर्ष के अन्तर्गत निषध पर्वत का उल्लेख मिलता है। जो वर्तमान एशिया के सोवियत संघ के तैमीर प्रायद्वीप या टुण्ड्रा प्रदेश में रहा होगा। इसमें गन्धर्व, सर्प व नागों का निवास कहा है—

'सर्पा नागाश्च निषधे'
'गन्धर्वा निषधे'

अन्यत्र ग्रंथों में गन्धर्व का तात्पर्य संगीत के ज्ञाता, गायनाचार्य, गाय को दुहने वाले, गाय का दूध पीने वाले, सुन्दर गायन जानने वाले हैं, सुगन्धप्रिय भी गन्धर्व हैं। गन्धर्व रूपवान होते हैं—

'गन्धर्वो दिव्य गायने'
'गन्धं अर्दति इति गन्धर्वं'
'वि वनतो अङ्गिरेनास्तु गन्धर्वास्तेन ते स्मृता'

'सर्पाः नागा' से यहाँ सर्प एवं नागों से तात्पर्य नहीं अपितु सर्प एवं नाग जाति के मानवों से तात्पर्य होगा। पुराणादि में अनेक राज-पुरुषों के नाग-कन्या से विवाहों के वर्णन मिलते हैं, जो वास्तव में नाग-जाति में उत्पन्न कन्या का ही सूचक है। पुराणों में यह वर्णन अतिरंजित रूप में किया गया है। नाग-लोक का तात्पर्य भी नाग-जाति के देश से होगा, क्योंकि महाभारत में अवैदिक दस्यु राज्यों की सूची में एक 'सर्प-देश' भी जो सर्प जाति के अवैदिक मानवों का देश था।

आयु-प्रमाण

भारतीय मानव तथा योरोपीय मानवों की आयु की तुलना भी की है। भारत की औसत आयु १, योरोप की ५ तथा योरोप के गन्धमादन अर्थात् स्विटजरलैण्ड आदि की ५-१/२ मानी है। किंतु कहा है—योरोपीय आयु स्थिर (नियत) है, तथा भारत की आयु में कमी या वृद्धि होती रहती है। इसका तात्पर्य यही है कि तब भारत में औसत आयु बहुत कम रही होगी।

हमारी पृथ्वी—जम्बूद्वीप या सुदर्शन द्वीप

विश्व के प्राचीन भूगोल पर दृष्टि डालने से पहले भारतीय साहित्य में उपलब्ध इसके इतिहास पर भी प्रकाश (संक्षेप) डालना आवश्यक है। महाराज प्रियव्रत के पुत्र आग्नीध्र एवं पूर्वचित्ती नामक अप्सरा के गर्भ से नौ पुत्र उत्पन्न हुए। यह सम्पूर्ण विश्व (पृथ्वी) तब 'जम्बूद्वीप' कहलाती थी, क्योंकि इस पृथ्वीलोक में जल का बाहुल्य है, और सौरमण्डल के अन्य किसी भी लोक में इतना जल नहीं है अत: जलप्रधान होने से इस पृथ्वी को जम्बूद्वीप कहा गया है।

महाराज आग्नीध्र ने इस पृथ्वी के नौ भाग कर !"नवखण्डा च मेदिनी" उनका शासन उन्हें सौंप दिया, उन पुत्रों के नाम पर ही पृथ्वी नौ खण्डों में विभाजित हुई, यथा :—

नाभि, किंपुरुष, हरि, इलावृत, रम्यक, हिरण्मय, कुरु, भद्राश्व और केतुमाल। इनमें शेष भूभाग इन्हीं पुत्रों के नाम पर प्रसिद्ध हुए, लेकिन नाभि नामक पुत्र के शासन वाले भूभाग का नाम बाद में उनके पौत्र भरत के नाम पर "भारत" पड़ा (महाराज नाभि एवं रानी मेरु देवी के पुत्र ऋषभदेव हुए और उनके एवं रानी जयन्ती के सबसे बड़े पुत्र भरत हुए)।

पहले भारत का नाम नाभिखण्ड रहा, फिर अजनाभखण्ड और अन्त में भारत वर्ष या "भारत" नाम पड़ा, जो अद्यावधि प्रचलित है।

अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर यज्ञ के घोड़े को ढूढ़ते हुए महाराज सगर के के पुत्रों ने सारे विश्व का भ्रमण किया था। पृथ्वी के उपरोक्त नौ खण्डों के अलावा (भागवत में) आठ अन्य द्वीपों स्वर्णप्रस्थ, चन्द्रशुक्ल, आवर्तन, रमणक, मन्दहरिण, पांचजन्य, सिंहल, (वर्तमान लंका ?) और लंका का भी वर्णन मिलता है। इनमें से अधिकांश की स्थिति का आज पता नहीं चलता।

पृथ्वी के नौ खण्डों की स्थिति

प्राचीन भारतीय साहित्य में पृथ्वी के नौ भागों की स्थिति का वर्णन इस प्रकार मिलता है :

हमारी पृथ्वी [जम्बूद्वीप] के नौ खण्ड
(आधुनिक देशान्तर रेखाओं में)

उत्तर

१५०प. १०५प. ६०प.

उत्तरकुरु [ऐरावत] वर्ष
हिरण्मय [हिरण्यक] वर्ष
रम्यक (श्वेत) वर्ष

पश्चिम

केतुमाल खंड

३०प. १५प. ३०पू.

इलावृत्त खंड

(मेरुः उत्तरी ध्रुव)

भद्राश्व वर्ष

१२०पू. १६५पू. १५०प.

पूर्व

हरिवर्ष
हेमवत (किंपुरुष) वर्ष
भारत वर्ष

३०पू. ७५पू. १२०पू.

दक्षिण

इलावृत्त (मेरु) से उत्तर में क्रमशः नील, श्वेत व शृंगमान् पर्वत थे। इसी प्रकार मेरु से दक्षिण में क्रमशः निषध हेमकूट तथा हिमालय पर्वत थे। पश्चिम में गंधमादन और पूर्व दिशा में माल्यवान नामक पर्वत था। यह मुख्य पर्वत हैं, इनके अलावा सैकड़ों अन्य पर्वतों का भी उल्लेख मिलता है।

समुद्र में निमग्न: भद्राश्वखण्ड

जिस स्थान पर आज प्रशान्त महासागर विद्यमान है, सैकड़ों वर्ष पूर्व वहां पर भू-भाग था इस बात से सभी विद्वान् सहमत हैं। किन्तु वह भूभाग कैसा था? वहां के निवासी कैसे थे? कौन थे? इत्यादि अनेक इस प्रकार के प्रश्न हैं, जिनके प्रति हमें अच्छी तरह से कुछ भी जानकारी नहीं है।

प्राकृतिक हलचलों के कारण पृथ्वी का रूप आज इतना बदल गया है कि उसके प्राचीन स्वरूप की कुछ भी कल्पना नहीं की जा सकती है। सामान्य तथ्यों के आधार पर विद्वानों ने जो अनुमान लगाये हैं उनमें भी मतैक्य नहीं है; और न उनके तथ्यों के कोई विज्ञान सिद्ध मान्य प्रमाण ही हैं। ऐसी अवस्था में कौन मत स्वीकार किया जाय?

मुक्सवे, स्मिथ, ईडन, पार्गिटर, विल्सन आदि अनेक पाश्चात्य व प्राच्य विद्वानों ने इस विषय में विचा है। किन्तु इन पाश्चात्य विद्वानों ने अपना मत अधिकांशत: पौराणिक आधारों पर ही निर्धारित किया है, क्योंकि पुराणों के अतिरिक्त अन्य पाश्चात्य साहित्य में इस विषय की सामग्री नहीं है और भारतीयों ने भी पाश्चात्य विद्वानों का ही अनुकरण किया है।

पौराणिक वर्णन इतना रहस्यमय है कि उससे न तो कोई ठीक-ठीक स्थान का निर्धारण ही किया जा सकता है, और न उन तथ्यों को स्वीकार ही किया जाना चाहिए क्योंकि पुराणोक्त वर्णन आधुनिक विज्ञान से सिद्ध नहीं होता—यहां तक कि कुछ बातें तो इतनी असम्भव हैं कि उनके देखते हुए अन्य सम्भव स्थलों पर भी सहसा विश्वास नहीं होता—विषयान्तर होने से इस विषय पर यहां हम इतना ही कहेंगे।

हां, कुछ आधार मात्र के हेतु पुराणों से आंशिक सहायता ली जा सकती है। किन्तु मूल रूप में हमें संस्कृत साहित्य के विज्ञान-सिद्ध भूगोल-खगोल सम्बन्धी एवं इतिहास विषयक ग्रंथों का आधार लेना होगा तभी कुछ निश्चित परिणाम पर हम पहुंच सकेंगे।

इस सम्बन्ध में कुछ विचारकों का यह मत है कि प्रशान्त महासागर चिरकाल से सागर ही है, और यह पुराणोक्त पुष्कर द्वीप का स्वादूदक नामक

समुद्र है जो प्रियव्रत के आठवें पुत्र सवन के राज्य में था। किन्तु यह पुराणों के आधार पर एक अटकलबाजी ही है, वास्तव में पुराणोक्त भद्राश्वखंड ही वर्तमान प्रशान्त महासागर है, जिसका समर्थन भूगोल-खगोल के ग्रंथों से भी होता है।

'भूवृत्त पादे पूर्वस्यां यम कोटीति विश्रुता।
भद्राश्ववर्षे नगरी,.........................।।'

भारतीय साहित्य में तब उज्जैन की देशान्तर रेखा को जो आजकल ७५ अंश पूर्व मानी जाती है देशांतर मध्य अर्थात् शून्य रेखा माना था, और भूमण्डल को आज ही की तरह ३६० अंशों में विभक्त किया था।

ऊपर कहा गया है कि पृथ्वी की कुल गोलाई के एक चौथाई दूरी पर इस मध्यरेखा से (अर्थात् उज्जैन से ९० अंश) पूर्व में भद्राश्ववर्ष में यमकोटि नामक नगरी है। तदनुसार यह स्थान वर्तमान १६५ अंश पूर्व में आता है। यह उल्लेखनीय है कि जिस यमकोटि नामक नगरी का उल्लेख आया है, वह भूमध्य रेखा पर स्थित नगर था। इस प्रकार १६५ अंश पूर्व, भूमध्यरेखा पर इस नगरी का पता चलता है।

आगे कहा गया है—

'भद्राश्वोपरिगः कुर्याद्भारतेतूदयंरविः'

अर्थात् जब भद्राश्ववर्ष में सूर्य ठीक सिर के ऊपर होता है, उस समय भारत में सूर्योदय होता है।

इससे यह सिद्ध होता है कि भद्राश्ववर्ष ही प्रशांत महासागर है। अन्य स्थलों पर भद्राश्व के पूर्वोत्तर पार्श्व पर समुद्र का उल्लेख मिलता है, जिससे यह विश्वास किया जाता है कि तब हवाइम द्वीप से उत्तर में ही समुद्र होगा। और मैरियानास, कैरोलाइन, सोलोमन, एलिस, फीजि, फेडेवी, कुकस, सोसाइटी, मार्किसस ईस्टर, हवाइयन माशालि और गिलबर्ट द्वीप समूह आज वहाँ पर हैं वही भद्राश्ववर्ष होगा एवं इन द्वीप समूहों को उसी का अवशेष मानना चाहिये। अथवा वर्तमान न्यूगिनी, आस्ट्रेलिया ही १६५ अंश से अधिक पूर्व तक फैला होगा।

यह भी संभव है कि तब १६५ देशान्तर पूर्व में भूमध्य रेखा पर कोई बड़ा द्वीप ही रहा हो, जिस पर यमकोटि नगर बसा हो।

जो भी हो, इतना तो निश्चय है कि यहाँ पहले स्थल भाग था, माशलि द्वीप के नीचे यमकोटि नामक नगर था, और यह प्रदेश सर्वथा सम्पन्न था। भूगोल-खगोल के ग्रंथों में इसका वर्णन करते हुए इसे सोने के तोरणों से बनी कहा गया है—

'भद्राश्ववर्षे नगरी स्वर्ण प्राकार तोरणा।'

इस प्रदेश में 'सीता' नाम की नदी का उल्लेख मिलता है, और श्वेत तथा श्रृंगमान नामक दो पर्वत थे। श्वेत चन्द्रमा के समान सफेद था, प्राकृतिक रूप से श्वेतवर्ण था अथवा हिम से—यह निश्चय नहीं कहा जा सकता है। वास्तव में श्वेत तथा श्रृंगमान् पर्वत उत्तरकुरु (ऐरावत खण्ड) और भद्राश्वखण्ड की सीमा पर स्थित थे। श्रृंगवान के अनेक छोटे बड़े शिखर थे इनमें तीन मुख्य थे। उत्तर तथा दक्षिणी अमरीका के पश्चिमी छोर पर स्थित राकी एवं कार्डिलरास पर्वत श्रृंखलायें और मैक्सिको का पठार ही क्रमश: श्वेत और श्रृंगवान् पर्वत कहे जा सकते हैं।

भद्राश्ववर्ष का अपना मुख्य पर्वत माल्यवान् था। इससे पूर्ववाहिनी नदियां प्रवाहित होती थीं। इस पर्वत में निरन्तर ज्वालामुखी प्रज्वलित होती थी—

तथा माल्यवत: श्रृंगे दृश्यते हव्यवाटसदा।
नाम्ना संवर्तको नाम कालाग्नि भरतर्षभ:।

* * *

तथा माल्यवत: श्रृंगे पूर्वपूर्वानुगंडिका:।

इस ज्वालामुखी को 'कालाग्नि'' कहा जाता था, सम्भवत: इससे व्यापक जन-धन की हानि होती होगी। ऐसा लगता है कि कालान्तर में माल्यवानपर्वत भी समुद्र में (प्रशांत सागर में) निमग्न हो चुका है। दिनांक २६-१०-६१ के समाचार पत्रों में इस आशय का समाचार छपा है कि प्रशांत महासागर में सर्वेक्षण करने वाले अमरीकी जहाज 'पायनियर' के द्वारा प्रशांत महासागर के केन्द्र में १२ हजार फुट ऊँचे पहाड़ का पता चला है, जिसकी ३४ चोटियाँ हैं। इससे भी माल्यवान पर्वत की पुष्टि होती है।

समुद्र के गर्भ में निमग्न होने के कारण इसके बारे में कुछ भी अनुमान नहीं लगाया जा सकता है। पुराणों के अनुसार तब इस प्रदेश में हयग्रीव की

उपासना होती थी।* उत्तरी छोर पर भद्रशाल नामक वन था, जिसके फलों को कालाम्र कहते थे, और अत्यधिक पौष्टिक होते थे—

'भद्रशाल वनं तत्र'

* *

कालाम्र रस पीतास्ते,
नित्य संस्थित यौवना:

पता नहीं इन द्वीप समूहों में आज भी इस प्रकार के कोई फल होते हैं या नहीं।

ऐतिहासिक ग्रंथों में इस प्रदेश के निवासियों का वर्णन भी मिलता है, जो इस प्रकार है—

तत्र ते पुरुषा: श्वेता: तेजोयुक्ता महाबला:।
स्त्रिय: कुमुदवर्णाश्च सुन्दर्य: प्रियदर्शना:॥
चन्द्रप्रभा: चन्द्रवर्णा: पूर्णचन्द्र निभानना:।
चन्द्र शीतल गात्रश्च नृत्यगीत विशारदा:॥

अर्थात् वहाँ की मानवजाति श्वेतवर्ण की है, तेजयुक्त है, बलशाली है और स्त्रियाँ कमल के समान वर्ण वाली (श्वेतवर्ण, किंतु गुलाबी), देखने में प्रिय लगने वाली सौंदर्य से पूर्ण हैं। चन्द्रमा के समान उनका श्वेत वर्ण है, चन्द्रमा के ही समान कांति है, और पूर्ण चन्द्रमा के समान मुख हैं (इससे जापान आदि के अनुरूप गोल मुखाकृति की कल्पना भी की जा सकती है)। इन स्त्रियों का शरीर भी चन्द्रमा के समान शीतल है, तथा वे नृत्य-गीत में विशारदा हैं।

चीन, जापान, कोरिया, थाइलैण्ड, आस्ट्रेलिया आदि क्षेत्र भी इसी भद्राश्व खण्ड के अन्तर्गत आते हैं।

---

*'कादम्बिनी' में एक पुरातत्व अन्वेषक का लेख छपा था (१९६०-६१ में)। उसमें वहाँ पर लाखों-करोड़ों विशालकाय मूर्तियों का होना लिखा गया है। उनके कुछ चित्र भी प्रकाशित हैं। उन चित्रों को लेखक ने 'दीर्घकर्ण', 'दीर्घ-जिह्व' आदि नामों से उच्चारित किया है। वास्तव में यह प्रतिमाएं हयग्रीव (घोड़े का मुख) के ही अनुरूप हैं।

उत्तर-कुरुः अमरीका

आधुनिक अमरीका के बारे में कोलम्बस की ढूंढ़ से तत्कालीन स्थिति और संस्कृति के बारे में ही पता चल सकता है, किन्तु चौदहवीं शताब्दी से सैकड़ों वर्ष पहले अमरीका की भौगोलिकी स्थिति क्या थी ? वहाँ के सामाजिक जीवन का स्तर कैसा था ? सामाजिक व्यवहार तथा उस प्रदेश के मूल निवासी कौन थे ? क्या जिन हिन्दू और मंगोल मुखाकृति के लोगों को तथा हिन्दू संस्कृति को कोलम्बस ने चौदहवीं शताब्दी में अमरीका महाद्वीप में प्रत्यक्ष देखा था—कोलम्बस के अलावा उनके कोई और प्रमाण भी उपलब्ध हैं ? इन प्रश्नों के बारे में यद्यपि पाश्चात्य साहित्य मौन है, किन्तु भारतीय संस्कृत-साहित्य में इसकी प्रचुर सामग्री विद्यमान है, जिससे अमरीका के प्राचीनतम भौगोलिक तथा सांस्कृतिक स्थिति का चित्र साकार हो उठता है ।

विश्व का पश्चिमी गोलार्ध स्थित देश अमरीका का पता ११ अक्टूबर, १४९२ ई० में कोलम्बस ने लगाया, क्योंकि उन दिनों पूर्वी गोलार्ध वालों को इस देश के, और इस देश वालों को पूर्वी गोलार्ध के बारे में कुछ भी ज्ञात न था, एतदर्थ इसको नई दुनिया भी कहा जाता है ।

किन्तु कोलम्बस ने वहाँ देखा कि वह भूमि भी मानव जाति से परिपूर्ण है । वहाँ भी मानव जाति सम्भवतः उतने ही समय से रहती है, जितने समय से पूर्वी गोलार्ध में । वहाँ भी कृषि, पशुपालन, व्यापार, यातायात आदि में देश की वही स्थिति थी, जैसी कि पूर्वी गोलार्ध में । कहने का तात्पर्य यह है कि वह केवल कहने मात्र को नई दुनिया थी, वास्तविक नई दुनिया नहीं और मानव जाति दोनों गोलार्धों में समान काल से रह रही थी ।

कदाचित् लोग यह समझते हों कि दोनों गोलार्धों में मानव जाति यद्यपि समान काल से रहती आई हो, किन्तु उनका परस्पर सम्पर्क सर्वप्रथम १४९२ ई० में ही हुआ होगा—यह एक मिथ्या धारणा ही होगी । वास्तव में चिरकाल पहले पूर्वी और पश्चिमी गोलार्ध के लोगों का उत्तरी ध्रुव के स्थल मार्ग से, जहाँ अब उत्तरी सागर है, (पहले एशिया और अमरीका मिले थे) परस्पर परिचय था, व्यापारादि सम्बन्ध थे ।

प्राकृतिक उथल-पुथलों के कारण बीच के समय में पृथ्वी में भौगोलिक परिवर्तन हुए—अनेक स्थल समुद्र में निमग्न हो गये, और समुद्र स्थल रूप में परिवर्तित हो गये। इन उथल-पुथलों में पूर्वी और पश्चिमी गोलार्ध का परस्पर सम्बन्ध टूट गया, और कालान्तर में मानव जाति की नई पीढ़ी इस स्थिति से अज्ञात ही रही।

जैसी कि विद्वानों की राय है कि कभी पृथ्वी के दो भाग थे—गोंडवाना (दक्षिणी), और अंगारा (उत्तरी)। दोनों के मध्य में समुद्र था जिसे टेथिस (खारा) समुद्र कहा जाता था। तात्पर्य यह है कि तब पृथ्वी के उत्तरी गोलार्ध और दक्षिणी गोलार्ध नामक दो भाग थे, न कि पूर्वी और पश्चिमी गोलार्ध।

'हिन्दू अमरीका' के लेखक चमनलाल ने अपनी पुस्तक में कोलम्बस का एक उद्धरण दिया है—

"हिन्दू और मंगोलियन आकृति के सैकड़ों हजारों मनुष्य, हिन्दू रीति, प्रथाएं, हिन्दू देवता गणेश इत्यादि, हिन्दू शिक्षा-प्रणाली, पुरोहित प्रथा, विवाह संस्कार, सवदाह, सतीप्रथा वहाँ पालन करते हैं। इन सबकी उपस्थिति पूर्णतः यह सिद्ध करती है कि हिन्दू और मंगोल स्थल या जल मार्ग से बहुसंख्या में अमरीका पहुँचे थे।"

इसके अलावा वहाँ के रीति-रिवाजों, पुरातत्व सामग्रियों से भी इसकी पुष्टि होती है जिससे विश्व के सभी विद्वान् सहमत हैं। किन्तु यहाँ पर हम यह तर्क कर सकते हैं कि हिन्दू धर्म तो वैदिक सनातन धर्म का ही एक स्वरूप है, क्योंकि वैदिक धर्म विश्व का मूल धर्म है, अतः जहाँ पृथ्वी के पूर्वी गोलार्ध में अन्य मुस्लिम, ईसाई आदि नये धर्मों का उदय हुआ, वहाँ पश्चिमी गोलार्ध में मानव जाति की उत्पत्ति से कोलम्बस की खोज तक वहाँ वैदिक धर्म ही रहा हो—पूर्वी गोलार्ध से संबंध विच्छेद हो जाने से वहाँ धार्मिक परिवर्तन न हुए हों।

कोलम्बस ने जब इसका पता लगाया, उससे वहाँ की वर्तमान स्थितियों पर ही प्रभाव पड़ सका है। चौदहवीं शताब्दी से सैकड़ों वर्ष पहले अमरीका की भौगोलिक स्थिति क्या थी। वहाँ के सामाजिक जीवन का स्तर कैसा था, सामाजिक व्यवहार कैसा था, और वहाँ के निवासी कैसे

थे (क्या भिन्न हिन्दू और मंगोल आकृति के लोगों को कोलम्बस ने देखा था वही वहाँ के मूल निवासी थे ?) इत्यादि अनेक विषय फिर भी अज्ञात ही रहते हैं।

भारतेतर साहित्य में कहीं भी इस प्रकार की सामग्री नहीं है, जिससे इस विषय पर प्रकाश पड़ सके। एतदर्थ अमरीका का पता लगने पर पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय पुराणों के आधार पर खोज-बीन आरम्भ की, और पाश्चात्यों का अनुकरण कर कुछ भारतीयों ने भी परिणाम स्वरूप पुराणोक्त पाताल को ही अमरीका कहा, और कुछ ने पुराणोक्त पुष्कर द्वीप का नाम अमरीका निश्चय किया, इसके अलावा और भी कई प्रकार के मत व्यक्त किये गये।

किन्तु पौराणिक वर्णन इतना काल्पनिक है कि उसका ठीक-ठीक निर्णय करना कठिन है। इसके अलावा पौराणिक वर्णन आधुनिक विज्ञान की कसौटी पर देखे जाने पर पद-पद में भारी अशुद्धियों से भरा पड़ा है। एक उदाहरण के लिए जम्बूद्वीप का विस्तार एक लाख योजन, और इतना ही उसका समुद्र माना है, इस प्रकार जम्बूद्वीप का विस्तार २ लाख योजन अर्थात् १० लाख मील माना है। तथा सम्पूर्ण पृथ्वी का विस्तार (जिसमें सप्त द्वीपों का उल्लेख है) २०,३२००,००० (बीस करोड़, बत्तीस लाख) का माना है, जबकि आधुनिक विज्ञान से भूमध्यरेखा पर पृथ्वी की परिधि कुल २४,९०० मील है। इत्यादि सैंकड़ों अशुद्धियों का वर्णन विस्तार एवं विषयान्तर के कारण यहाँ देना ठीक नहीं है। इस प्रकार अमरीका को पुष्कर द्वीप या पाताल मानना युक्तिसंगत नहीं है।

जिन विद्वानों ने इस विषय में खोजबीन की है, उन्होंने केवल पुराणों का आधार लिया है, किन्तु इसका सही निर्णय तब तक नहीं होगा जब तक कि इस विषय में उपलब्ध पुरातन इतिहास तथा भूगोल-खगोल सम्बन्धी विज्ञानसम्मत पुस्तकों का आधार न लिया जाय। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि शायद पाश्चात्य विद्वानों को संस्कृत साहित्य के खगोल-भूगोल व विज्ञान सम्बन्धी ग्रंथों का पता न हो।

अस्तु, पुराण, इतिहास तथा भूगोल-खगोल सम्बन्धी संस्कृत साहित्य के आधार पर अमरीका के सम्बन्ध में जो प्रकाश पड़ता है, वह निम्न प्रकार है :—

भौगोलिक स्थिति

संस्कृत साहित्य में अमरीका (उत्तरी अमरीका) का नाम 'उत्तर कुरु' अथवा 'कुरुवर्ष' है। उत्तरी ध्रुव से लेकर भूमध्य रेखा तक ९० अक्षांश के प्रदेश में इसका विस्तार था। इसको भी तीन भागों में विभक्त किया गया था—

सबसे उत्तरी भाग (६० अक्षांश से उत्तरी भाग कनाडा) 'श्वेत' या 'रम्यक' कहा जाता था। मध्यवर्ती प्रदेश को, जिसमें कुछ कनाडा और कुछ संयुक्त राज्य आता है, 'हिरण्यक' कहा जाता था और भूमध्य रेखा से ३० अक्षांश तक को (मैक्सिको) 'ऐरावत' कहा जाता था। इस प्रकार 'उत्तर-कुरु' अथवा 'ऐरावत' का ही अपभ्रंश 'अमरीका' हो सकता है। भारतीय साहित्य में—

'भारतेतूदयं रवि :' ।
... ... कुरुं अस्तमयं तथा ।

कहा गया है कि जब भारत में सूर्योदय होता है, उस समय कुरु में सूर्यास्त होता है। यह स्थान प्राचीन देशांतरमध्य रेखा उज्जयनी (वर्तमान ७५ डिग्री पूर्व) से १८० अंश दूरी पर बतलाया है। जिससे यह स्थान वर्तमान १०५ अंश पश्चिम (अमरीका) में आता है।

धनुसंस्थे महाराज द्वे वर्षे दक्षिणोत्तरे।

अर्थात् जिस प्रकार मेरु के (ध्रुव के) एक तरफ भारत (दक्षिण में) है, उसी प्रकार दूसरी तरफ (उत्तर में) ऐरावत की स्थिति बतलाई है तदनुसार यह स्थान मैक्सिको एवं संयुक्त राज्य में आता है। इन प्रमाणों से अमरीका का प्राचीन नाम उत्तर-कुरु (ऐरावतखण्ड) सिद्ध हो जाता है।

इन तीनों वर्षों के लिए संयुक्त रूप से 'उत्तर कुरु' नाम प्रयुक्त हुआ है। इस भूखण्ड में ३ प्रसिद्ध पर्वतों का उल्लेख है, रम्यक वर्ष में 'नील' पर्वत हिरण्मय वर्ष में श्वेत पर्वत और ऐरावत खण्ड में श्रृंगवान पर्वत था। यह पर्वत पश्चिमी छोर पर थे, जो भद्राश्वखण्ड की सीमा पर थे (भद्राश्व खण्ड में इनकी चर्चा आ चुकी है)। नील पर्वत सबसे उत्तर में था, जो अलास्का (पर्वत श्रेणी) हो सकता है।

दक्षिणी अमरीका के बारे में कोई विवरण उपलब्ध नहीं होता। अथवा यह भी हो सकता है कि मेक्सिको व दक्षिणी अमरीका समेत पूरा प्रदेश ऐरावत खण्ड में ही आता हो, एँडीज पर्वत भी श्रृंगवान के ही भाग हों।

सिद्धपुरी

इसी के संदर्भ में आगे उल्लेख है कि उज्जयनी से ठीक १८० अंश दूरी पर भूमध्य रेखा में सिद्धपुरी नामक नगरी है—

> उदक् सिद्धपुरी नाम कुरुवर्षे प्रकीर्तिता: ।
> भूवृत्तपाद विवरास्ता अन्योन्य प्रतिष्ठिता: ।।

यह स्थान मैक्सिको के नीचे रहा होगा जो आजकल प्रशांत महासागर में निमग्न हो चुका है। मैक्सिको के दक्षिण-पश्चिम तब भूभाग और विस्तृत रहा होगा, अथवा वहाँ कोई द्वीप रहा हो।

आगे कहा गया है कि पृथ्वी में जो मनुष्य जहाँ रहता है, वह वहीं समझता है कि मैं ऊपर हूं, किन्तु यहाँ कौन ऊपर और कौन नीचे ? क्योंकि पृथ्वी गोल है उसमें सभी प्रदेश सम-सूत्रवत् हैं, न कोई ऊपर है न नीचे—

> अन्येऽपि समसूत्रस्था मन्यते य: परस्परम् ।
> सर्वत्रैवं महीगोले स्वस्थानमुपरिस्थितम् ।
> मन्यते खे यतोगोलस्तस्य क्वोर्ध्वं क्ववाप्यध: ।।

जब पृथ्वी गोल है, और वह आकाश में निराधार लटकी है, तो कौन नीचे और कौन ऊपर' इससे यह सिद्ध होता है कि तत्कालीन भारतीय अमरीका को उसी रूप में जानते थे जिस प्रकार आजकल; न कि पाताल के रूप में। इस प्रकार पौराणिक आधारों पर अमरीका की पाताल कल्पना भी निर्मूल सिद्ध हो जाती है।

अन्यान्य विवरण

अमरीका की नदियों में उन दिनों 'भद्रा' प्रमुख थी, जो सम्भवत: मिसिसिपि हो होगी, अथवा उत्तरी अमरीका में अन्य किसी नदी का उस समय अस्तित्व हो, हिरण्मय वर्ष में 'हिरण्यमी' नदी मुख्य थी।

उस समय में वहाँ ऐरावतखंड में 'मत्स्यावतार' के रूप में; हिरण्मय वर्ष में 'कच्छपावतार' और रम्यक वर्ष में वराहावतार के रूप में ईश्वरोपासना होती थी। लेकिन तब भी वहाँ 'वर्णाचार रहित:' अर्थात् भारत की तरह चतुर्वर्ण व्यवस्था नहीं थी।

पुराणकारों के अनुसार यह भोगभूमि है, और भारत कर्मभूमि। भारत में शुभकर्मों में प्रवृत्ति एवं उनका फल अधिक होता है, और उन शुभकर्मों के पुण्य से वनित सुखोपभोग हेतु यहाँ जन्म होना कहा गया है; इस मत का प्रतिपादन भूगोलकार भी करते हैं—

"तस्यांसिद्धामहात्मानो निवसन्ति गतव्यथाः।"

इत्यादि।

जन-जीवन की झाँकी

उत्तराः कुरवो राजन पुण्याः सिद्धनिषेविताः।
तत्रवृक्षाः मधु फलो नित्यपुष्पफलोपमा॥
पुष्पाणि च सुगंधिनि रसवन्ति फलानि च।

अर्थात् उत्तर कुरु में पुण्यात्मा एवं सिद्ध जन निवास करते हैं, वहाँ वृक्षों में मधुर-स्वादिष्ट फल होते हैं उनमें फल एवं फूल किसी ऋतु विशेष में नहीं अपितु हमेशा होते हैं। सुगंधित पुष्प होते हैं, और रसवान् फल।

सर्वामणिमयी भूमि सूक्ष्मकाञ्चन वालुका।
सर्वर्तु सुखसंस्पर्शा निष्पंका च जनाधिप॥
पुष्करिण्यः शुभास्तत्र सुखस्पर्शा मनोरमाः।
देवलोक च्युताः सर्वे जायन्ते तत्र मानवाः॥

यह भूमि मणिमयी है, सोने की सूक्ष्म बालू है (सोने के समान बालुका है), सभी ऋतुओं में सब प्रकार सुख ही अनुभव होता है कीचड़ नहीं है। सुन्दर जलाशय हैं, जो मन को रमाने वाले (आकर्षक) और स्पर्श से (विहार, स्नानादि में) सुखदायक हैं। यहाँ सभी मानव देवलोक से च्युत होकर (पुण्य भोग कर) ही जन्म लेते हैं।

शुक्लाभिजन सम्पन्नाः सर्वेषु प्रियदर्शनाः।
मिथुनानि च जायन्ते स्त्रियश्चाप्सरसोपमाः॥

यहाँ मानव श्वेत वर्ण हैं, सम्पन्न हैं, देखने में सबको प्रिय लगते हैं। इनके जोड़े भी अच्छे लगते हैं, और स्त्रियाँ भी अप्सराओं के समान होती हैं।

मिथुनं जायते काले समंतच्चप्रवर्धते।
तुल्यरूप गुणोपेतं समवेषं तथैव च॥
एकैकमनुरक्तं च चक्रवाक समंविभो।
निरामयाश्च ते लोका नित्यं मुदित मानसाः॥

यहाँ मिथुन (पुत्र और पुत्रियाँ) समान काल में उत्पन्न होते हैं—एक साथ बड़े होते हैं। उनका रूप, गुण, रहन-सहन, वेश-भूषा सब समान होती है (भारत की तरह स्त्री और पुरुषों में शिक्षा वेषभूषा आदि में असमानता नहीं है) । वे एक दूसरे से प्रेम म बंधे रहते हैं (युवक-युवतियाँ) जैसे कि चकवा पक्षी। यह भूमि सर्वथा उपद्रवों से रहित है जिससे लोग हमेशा प्रसन्न मन आनन्द से रहते हैं (यह अमेरीकी सभ्यता का स्पष्ट चित्रण है) ।

भारुण्डा नाम शकुना तीक्ष्णतुण्ड महाबला: ।
तान्निर्हरन्तीहमृतान् दरीषु प्रक्षिपन्ति च ।।

अर्थात् वहाँ भारुण्ड नाम के पक्षी होते हैं, जो महाबली और तीखे चोंच वाले होते हैं। जो मरे हुये लोगों के शरीर को उठा ले जाते हैं। और कन्दराओं में फेंक देते हैं।

(यह गरुड़ के समान पक्षी का वर्णन है। पता नहीं इस प्रकार के पक्षी उस भूमि में आज भी हैं या नहीं—किन्तु अमरीका का राष्ट्रीय चिह्न इसी प्रकार का पक्षी है—इसका चयन किस आधार पर किया गया ? इससे कुछ रहस्योद्घाटन हो सकता है।)

हिरण्मय वर्ष की भांति ही ऐरावत वर्ष में भी 'गरुड़' मुख्य पक्षी था—

"यत्रचायं महाराज पक्षिराट् पतगोत्तम:"

इस प्रकार पूरे उत्तर कुरु में पक्षिराज गरुड़ का अस्तित्व सिद्ध होता है।

पौराणिक उपाख्यानों के आधार पर भारतीयों के इस प्रदेश में आवागमन की पुष्टि होती है। स्कंद पुराण में एक स्थल पर—

'उत्तरांश्च कुरुनीत्वा विमानेनार्कतेजसा'

सूर्य के समान तेजस्वी विमान द्वारा शिव जी की उत्तर-कुरु-यात्रा का वर्णन है और भी अनेक उपाख्यान हैं।

जो भी हो, भारतीय साहित्य में जो उपर्युक्त वर्णन मिला है, उससे यह सिद्ध हो जाता है कि यह प्रदेश भारतीयों से पूर्णत: परिचित था। तथा इस वर्णन से कोलम्बस से सैकड़ों-लाखों वर्ष पुराने अमरीका के जन-जीवन का दृश्य साकार हो उठता है।

एक सम्भावना यह भी है कि भद्राश्वखण्ड से जल या स्थल मार्ग के माध्यम से प्राचीन अमरीका का शेष विश्व से सम्पर्क रहा हो, और बाद में भद्राश्वखण्ड के समुद्र में निमग्न हो जाने से अमरीका के शेष विश्व से सम्बन्ध टूट गये होंगे।

रमणक या ग्रीनलैण्ड

मेरु (ध्रुव) के निकट ही उत्तर में 'रमणक' नामक प्रदेश था। उसमें सभी ऋतुओं में पुष्प खिले रहते थे। कर्णिकार (कनेर) के वृक्षों की झाड़ियाँ थीं, और यह भूमि शिला समूह से युक्त (पथरीली) थी—

पार्श्वे तस्योत्तरे दिव्यं सर्वर्तु कुसुमैश्चितम्।
कर्णिकार वनं रम्यं शिलाजाल समुद्गतम्॥

यहाँ के निवासी श्वेत वर्ण, देखने में सुन्दर तथा परस्पर निर्वैर भाव से जीवन यापन करने वाले थे। अन्य विशेष वर्णन नहीं है।

ध्रुव प्रदेश या इलावृत

भु. मेरु (उत्तरी ध्रुव) को इलावृत कहा गया है। कहा है—वहाँ सूर्य नहीं तपता है—सूर्य और चन्द्रमा का प्रकाश भी वहाँ नहीं पहुँचता (दक्षिणायन में)। इस प्रदेश में 'सुदर्शन' नामक पर्वत था। अन्य कोई वर्णन नहीं मिलता। पुराणों के अनुसार बुध के पुत्र इल इस क्षेत्र में जाने से स्त्रीरूप (नपुंसक) हो गये थे—शायद प्राकृतिक कारणों से।

केतुमालखण्ड : योरोप और अफ्रीका

सैकड़ों वर्ष पहले पृथ्वी की जो स्थिति थी, प्राकृतिक परिवर्तनों के कारण वह बिलकुल बदल चुकी है। प्रकृति के यह परिवर्तन कम या अधिक परिमाण में समस्त भूखण्ड पर हुए, इनमें योरोप भी अछूता नहीं रहा।

किन्तु यह आश्चर्य की बात है कि मूलभूत सांस्कृतिक गुण और कई प्राकृतिक स्थल योरोप में आज भी उसी रूप में विद्यमान हैं जैसे कि अनन्तों वर्ष पहले। विश्व का सर्वश्रेष्ठ सौन्दर्य-स्थल स्विटजरलैण्ड; विलासियों, धनियों और अप्सराओं की नगरी पेरिस; देवराज इन्द्र के नन्दन वन तुल्य योरोप का प्राकृतिक वनस्पति-सौन्दर्य तथा कई एक भौगोलिक स्थितियां—स्वीडन, फिनलैण्ड, आल्पस, कार्पेथियन आदि इसके उदाहरण हैं।

पृथ्वी की प्राचीन स्थिति जानने के लिए आज हमारे पास भौगोलिक साहित्य नहीं के बराबर है जिससे कुछ प्रकाश पड़ सके। पौराणिक साहित्य में इस प्रकार की सामग्री अवश्य है, किन्तु वह भी काल्पनिक होने से उसके आधार पर किसी निश्चित परिणामों पर नहीं पहुँचा जा सकता है, और पौराणिक वर्णन कई स्थलों पर युक्ति-संगत भी नहीं है। इतना अवश्य है कि भूगोल-खगोल, पुरातत्त्व तथा इतिहास एवं विज्ञान सम्बन्धी उपलब्ध प्राचीन साहित्य का सहारा लेकर स्थूल रूप से बहुत से तथ्य सामने आ जाते हैं।

इन आधारों पर अनेक प्राच्य व पाश्चात्य विद्वानों ने अनुसंधान किया है, किन्तु वे सभी एकमत नहीं हैं। योरोप के सम्बन्ध में—

(१) स्मिथ साहब का मत है कि अमरीका और योरोप में पहले तुषार था, प्रख्यात मरुस्थल सहारा और गोबी समुद्र में थे।

(२) हक्सले साहब का मत है कि ब्रिटिश, द्वीप पुंज, मध्ययूरोप और उत्तर एशिया महार्णव थे। अराल और कैस्पियन सागर एक थे। और इनकी जलराशि का सम्बन्ध उत्तर में आर्कटिक सागर और पश्चिम में भूमध्य सागर से था।

(३) और लोगों के मत से ग्रेट ब्रिटेन यूरोप से मिला हुआ था। इंगलिश चैनल का कहीं पता नहीं था। इंगलैन्ड, स्काटलैण्ड और आयरलैण्ड एक में थे।

(४) कर्नल विल्फर्ड के मत से 'केतुमालखण्ड' वह प्रदेश है, जिसमें योरोप, अफ्रीका का उत्तरी भाग, और एशिया माइनर का अन्तर्भाव होता है। (यह मत कुछ अंश तक युक्तिपूर्ण है।)

मतभेद क्यों

विद्वानों में इस प्रकार मतभेद होने का मुख्य कारण यह है कि उन्होंने केवल पौराणिक और ऐतिहाहिक उपलब्ध सामग्री से ही तथ्य निकाले हैं, जैसा कि मैंने कहा है पौराणिक वर्णन से कुछ सही पता नहीं चलता है, विशेषकर तब तक जब तक कि अन्य आधारों से यह पूर्णरूपेण निश्चय न हो जाय कि योरोप का पौराणिक नाम क्या था। सौभाग्यवश संस्कृत साहित्य के विज्ञान-सिद्ध भूगोल-खगोल विषयक ग्रंथों में हमें इसके आधार मिल गये हैं। यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि पाश्चात्य अन्वेषकों की दृष्टि में यह ग्रंथ नहीं आया होगा। क्योंकि इसके आधार पर स्थिति स्पष्ट हो जाती है। यद्यपि इस ग्रंथ की अन्य पाश्चात्य विद्वान् भी भूरि-भूरि प्रशंसा कर चुके हैं।

प्राचीन योरोप—प्राकृतिक

सूर्यसिद्धांत ग्रंथ के आधार पर यह पूर्णतः सिद्ध हो जाता है कि योरोप का प्राचीन नाम 'केतुमालखण्ड' था—

भद्राश्वोपरिगः कुर्याद्भारतेतूदयं रविः।
राव्यर्धं केतुमालाख्ये कुरुं ऽस्तमयं तथा ॥

अर्थात् जब 'भद्राश्व' (वर्तमान प्रशांत महासागर) में दोपहर के १२ बजते हैं, तब भारत में सूर्योदय, केतुमालखण्ड में ठीक आधी रात और 'कुरु' (वर्तमान अमरीका) में सूर्यास्त होता है।

इसके अलावा तत्कालीन अफ्रीका के एक नगर 'रोमक' का उल्लेख किया है। यह नगर योरोप के दक्षिण भाग में भूमध्य रेखा पर और वर्तमान १५ अंश देशान्तर पश्चिम (वर्तमान में समुद्र मग्न स्थल—लाइबेरिया से दक्षिण में) पर स्थित था—

'पश्चिमे केतुमालाख्ये रोमकाख्या तथैव च।'

कुछ लोगों ने योरोप को अब तक क्रौञ्चद्वीप माना था, यह केवल काल्पनिक है। इस विषय पर पृथक् से लेख लिखा जा सकता है। पूर्वोक्त कथन 'भारत में सूर्योदय के समय केतुमाल में मध्यरात्रि होती है, योरोप का प्राचीन नाम केतुमालखण्ड सिद्ध हो जाता है।

इन आधारों पर ग्रीनविच से ३० देशान्तर पूर्व से लेकर ६० देशान्तर पश्चिम तक इस ९० रेखांश के प्रदेश का नाम केतुमालखण्ड था। अतः इस क्षेत्र में समस्त योरोपीय राष्ट्र और अफ्रीका आ जाते हैं। योरोप और अफ्रीका के बीच तब भी समुद्र था, जो मेखला-समुद्र कहा जाता था। इसके उत्तरी (योरोप) और दक्षिणी (अफ्रीका) निवासियों के बीच तब भी द्वेष-भाव था। उत्तरी भाग वाले अपने को देव अर्थात् उच्च मानते थे, और दक्षिणी निवासियों को असुर कहा जाता था (इसे 'अंगारा और गोंडवाना' शीर्षक अध्याय में दिया है।)

एतिहासिक ग्रंथों के आधार पर इस प्रदेश की भौगोलिक स्थितियाँ और भी स्पष्ट हो जाती हैं।

केतुमालखण्ड का मुख्य पर्वत गन्ध मादन था सम्भवतः वर्तमान 'आल्प्स' पर्वत ही प्राचीन गन्धमादन है—

'गन्धमादन पादेपु परेष्वपरगण्डिका'

अर्थात् गन्धमादन पर्वत के पाद-तल में अनेक नदियाँ हैं।

आल्पस (गन्धमादन) के उत्तरी भूभाग में तब जम्बू (जामुन) वृक्ष प्रचुर मात्रा में थे। वर्तमान परिवर्तित जलवायु में आज वे हैं या नहीं—या वहाँ हो सकते हैं अथवा नहीं—यह जानने का विषय है। इसी भूभाग में तब सुवर्ण भी मिलता था। इस प्रदेश का प्राचीन नाम 'सुदर्शन' था।

सुदर्शनो नाम महाञ्जम्बू वृक्ष सनातनः।
तत्र जाम्बू नदं नाम कनकं देव भूषणं॥

ब्रिटिश द्वीप समूहों के बारे में कोई विस्तार से वर्णन नहीं है, जैसा कि स्मिथ साहब का मत है, यह प्रदेश तुषारमय हो—किन्तु आबादी अवश्य थी। अन्य पौराणिक स्थलों में इस प्रदेश के निवासियों को (ब्रिटिश राजवंश) विश्वकर्मा का वंशज माना गया है। यह प्रदेश तब पृथक् नहीं था (जैसा कि तीसरे मत वाले मानते हैं।) अन्य यूरोप से जुड़ा था।

हो सकता है, जैसा कि स्मिथ साहब ने माना है, प्रख्यात मरुस्थल सहारा तब समुद्र में हो, किन्तु भूमध्य रेखा पर १५ अंश देशान्तर पश्चिम में 'रोमक' नामक नगर का होना—जिसे योरोप (प्राचीन) में ही माना गया है, यह इस बात को सिद्ध करता है कि अफ्रीका और पश्चिम तक फैला था। यह भूभाग कम से कम पश्चिम में १५ अंश तक, और दक्षिण में भूमध्य रेखा तक विस्तृत था। अथवा वहाँ कोई द्वीप रहा हो।

यह पुरातन योरोप की प्राकृतिक स्थिति थी।

प्राकृतिक सौन्दर्य के लिए योरोप तब भी प्रसिद्ध था, उसकी तुलना देवराज इन्द्र के नन्दन वन से की गई है—

'सु महान् नन्दनोपमः'

निवासी

इस प्रदेश के निवासी सुवर्ण के समान साफ तेजस्वी वर्ण के होते थे, और नारियाँ साक्षात् अप्सराओं को मात करती थीं। उनके प्रदेश में, समाज में किसी प्रकार का भय, उपद्रव नहीं था। किसी प्रकार की चिन्ता या शोक नहीं था– निरन्तर आनन्द मग्न रहते थे। यहाँ के मानव तपाये हुए सोने (सफेद) की प्रभा के समान दीप्तिमान् व श्वेत होते थे—

सुवर्ण वर्णाश्च नराः स्त्रियश्चाप्सरसोपमाः।
अनामयाः वीतशोका नित्यं मुदित मानसाः॥
जायन्ते मानवास्तत्र निष्तृप्त कनक प्रभा।

यह एक सामान्य वर्णन है। इसके अतिरिक्त कुछ स्थलों का पृथक् से भी वर्णन है।

गन्धमादन—स्विटजरलैण्ड

आल्पस की पहाड़ियों में स्थित स्विटजरलैण्ड जिस प्रकार आजकल विश्व का सर्वश्रेष्ठ सौन्दर्य एवं आरोग्य-स्थल माना जाता है, यही धारणा पुराकाल में भी थी। उसे गन्धमादन कहा गया है। संस्कृत साहित्य तथा पौराणिक आधार पर उसे तब का सर्वाधिक सुरम्य स्थल माना है।

इसके बारे में कहा है—

'गन्धमादन शृंगेषु कुबेर सह राक्षसैः।
संवृत्तोऽप्सरसां संघैर्मोदते गुह्यकाधिपः॥'

अर्थात् गन्धमादन के शिखरों पर कुबेर (धनपति) राक्षसों के साथ (अनुचरों के साथ) अप्सराओं के समूह में विहार करते हैं।

पता नहीं तब स्विटजरलैण्ड की क्या स्थिति थी, किन्तु इसके निकटवर्ती पेरिस का सही चित्रण इसमें हो जाता है।

तत्र हृष्टा नरा राजन् तेजोयुक्ता महाबलाः।
स्त्रियश्चोत्पल वर्णाभाः सर्वाः सुप्रियदर्शनाः॥

यहाँ के मानव प्रसन्न मन थे, महा बलशाली थे, तेज से युक्त थे और महिलाएँ कमल के समान वर्ण व आभा वाली थीं, और देखने में सुन्दरी थीं।

यहाँ के निवासी कामी, भोगी तथा 'कामदेव' के उपासक थे।

स्वीडेन और फिनलैण्ड

वर्तमान स्वीडन तथा नार्वे का प्राचीन नाम "काश्यपद्वीप" और फिनलैण्ड का नाम "नागद्वीप" मिलता है, यह दोनों द्वीप मेरु (ध्रुव) के सन्निकट थे। यहाँ के निवासियों का अधिक विवरण नहीं मिलता।

अफ्रिका के बारे में भी पृथक् से विवरण उपलब्ध नहीं होता।

सैन्य-व्यवस्था और युद्ध-विज्ञान

पुरातन भारत अन्याय विज्ञानों की तरह सैन्य व्यवस्था तथा युद्ध विज्ञान में भी समुन्नत था, इस बात के संस्कृत साहित्य में प्रचुर प्रमाण मिलते हैं। यहाँ तक कि जो सैन्य-व्यवस्था पाश्चात्य देशों में १८वीं और १९वी शताब्दी में हो सकी, उससे कहीं अच्छी सैन्य-व्यवस्था भारत में दूसरी-तीसरी शताब्दी में विद्यमान थी।

केवल संस्कृत-साहित्य के ही नहीं अपितु विश्व में उपलब्ध सबसे प्राचीन साहित्य वेदों के काल से ही भारत में सु-सैन्य व्यवस्था का पता चलता है। ऋग्वेद (७-६२-१, ५-५८-४, ६-४७-२) में पैदल, रथ वाले सैनिकों का तथा युद्ध-कला का उल्लेख मिलता है। यजुर्वेद में सेना तथा सेनानी (सेनापति) को नमस्कार किया गया है, तथा रथी और पैदल दोनों सेनाओं का उल्लेख है—

नमः सेनाभ्यः सेनानिभ्यश्चवो
नमो नमो रथिभ्योऽरथेभ्यश्च वो…… ।

यजुर्वेद (१७-३५, १७-३४, १७-४८ आदि) में युद्ध का विस्तार से वर्णन है, मुख्यतया युद्ध में धनुष-वाण का प्रयोग होता था। एक स्थान पर कहा गया है—

धन्वना गा धन्वनाजिं जयेम् ।
धन्वना तीव्राः समदो जयेम् ।
धनुः शत्रोरपकारं कृणोति ।
धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम् ॥

इस धनुष के द्वारा मैं शत्रु की सम्पूर्ण सम्पत्ति गौ आदि जीतूंगा, धनुष से मैं भयंकर मदपूर्ण युद्धों में सम्पूर्ण मार्गों की जय प्राप्त करूँगा, धनुष से शत्रु के सम्पूर्ण मनोरथों को नष्ट कर दूंगा, धनुष से दशों दिशाओं को जीतूंगा—यह हमारे वैदिक योद्धा की सिंह गर्जना है।

पता चलता है कि उक्त काल में आधुनिक राइफल की जगह पर दूर प्रहार के लिए धनुष ही प्रमुख आयुध था, और निकटस्थ युद्ध हेतु खड्ग, चक्र,

गदा, मूसल, परशु, परिध, त्रिशूल, भुशंडी, दंड, शक्ति, वज्र, नागपाश, शूल, हल आदि शस्त्र प्रयोग में आते थे।

युद्ध के अवसर पर सैनिकों के मर्मस्थलों पर कवच रहता था। यजुर्वेद (१७-४६) में मर्मस्थलों को अभेद्य कवच से आच्छादित करने का उल्लेख आया है। वैदिक साहित्य में इन्द्र और वृत्रासुर के युद्ध का विशद वर्णन है।

स्त्रियों ने भी युद्ध में समुचित भाग लिया है, वैदिक साहित्य में इस प्रकार के अनेक वर्णन हैं। खेल नामक ऋषि की पत्नी विश्पला अपने पति के साथ युद्ध में गयी थी, जहाँ उसकी जांघ टूट गयी थी — जिसे बाद में सेना के चिकित्सक अश्विनी कुमारों ने ठीक किया था। इसी तरह वृत्रासुर की माता दनु भी पुत्र के साथ युद्ध में गयी—जहाँ इन्द्र के हाथों उसकी मृत्यु हुई। वैदिक साहित्य के परवर्ती आदिकाव्य रामायण में भी उल्लेख है कि दशरथ पत्नी कैकयी भी पति के साथ युद्ध में गयी थीं, जहाँ रथ की कीली गिर जाने पर रथ-भंग के भय से उस छिद्र में अपनी उँगली डालकर वीरोचित कार्य किया था।

वैदिक युग के परवर्ती साहित्य रामायण, महाभारत, मनु स्मृति, कौटिल्य-अर्थशास्त्र आदि में सेना का सुव्यवस्थित एवं विस्तृत वर्णन मिलता है। आधुनिक प्लाटून, रेजीमेन्ट, बिग्रेड, कमाण्ड इत्यादि की तरह उस युग में भी सेना का विभाजन होता था। सेना की सबसे छोटी टुकड़ी का नाम पत्ति कहा गया है।

पत्ति — १ रथ, १ हाथी, ५ पैदल और ३ घुड़सवार।

३ पत्ति — १ सेनामुख।

३ सेनामुख — १ गुल्म।

३ गुल्म — १ गण।

३ गण — १ वाहिनी।

३ वाहिनी — १ पृतना।

३ पृतना — १ चमू।

३ चमू — १ अनाकिनी।

१० अनाकिनी — १ अक्षौहिणी।

१ अक्षौहिणी में १,०९,३०५ पैदल, २१,८७० रथी, २१८७० गजी और ६५,६१० घुड़सवार।

इससे स्पष्ट है कि ईसा से १–२ शताब्दी पूर्व ही इस प्रकार की समुन्नत सैन्य व्यवस्था कायम हो चुकी थी।

सेनाधिकारी

इसी प्रकार सेनाधिकारियों की व्यवस्था है। एक 'पत्ति' के अध्यक्ष को पात्तिक' कहा गया है। दस पत्तिकों का पति 'सेनापति' और दस सेनापतियों के अध्यक्ष को 'वलाध्यक्ष' अथवा सेनाध्यक्ष कहा गया है। सेनाध्यक्षों को राजा स्वयं नियुक्त करता था। कई सेनाध्यक्ष होते थे। सामान्यतः सेना को चतुरंगिणी कहा है, हाथी, घोड़ा, पैदल और रथी यह सेना के चार प्रमुख अंग हैं। सूक्ष्मतः सेना के दस अंग हैं, इनमें सेवक, चिकित्सक, प्राविधिक आदि सभी का समन्वय होता था। रामायण में नल-नील जैसे समुद्र में पुल बाँधने वाले प्राविधिकों का वर्णन मिलता है, और देव-दानव युद्ध में वैदिक साहित्य में अश्विनी कुमार प्रधान चिकित्सक के रूप में आये हैं।

युद्ध क्षेत्र में दंडव्यूह, शकटव्यूह, वराहव्यूह, मकरव्यूह, सूचीव्यूह, गरुड़व्यूह, पद्मव्यूह चक्रव्यूह आदि आकार में सेना को संगठित कर युद्ध करने का वर्णन है। वास्तव में यह व्यूह-रचना बड़े महत्त्व की है।

सेना को किस प्रकार आगे बढ़ाया जाय? इसका रोचक वर्णन है—"यात्रा को उपयोगी अस्त्र-शस्त्र वाहन आदि वस्तुओं की यथा योग्य व्यवस्था करके, रहने के योग्य साधन तम्बू आदि का संग्रह कर दूतों को भलीभाँति नियुक्त कर जंगल, मैदान और जल अथवा पैदल, घोड़े, रथों की तीनों प्रकार के मार्गों को साफ करके और सेना के सभी अंगों को प्रसन्न करके शनैः शनैः शत्रु के देश की ओर चले। (—मनु)"

"सम-भूमि में सवार और रथी सेना से, जल में नौका और हाथियों से, वृक्ष तृण एवं लता से पूर्ण स्थान में धनुषवाण से तथा सुथरी भूमि में ढाल तलवार से युद्ध करे।

"किले में अथवा बाहर युद्ध करते हुए शत्रु को घेर कर पड़ा रहे और उसके देश में उजाड़ कर देश के दैनिक उपयोगी वस्तुओं अन्न जलादि को भ्रष्ट करदे, तालाब, किले की खाई, आदि को मिट्टी आदि से भर दे, ताकि शत्रु आवश्यक सामग्री के अभाव में आत्म समर्पण कर दे। शत्रु राजा के विरोधियों, उपद्रवियों, को लालच देकर अपने पक्ष में कर लेवे। जीते हुए देश में बुद्धि-जीवियों और धार्मिक नेताओं का सत्कार कर उन्हें भेंट और अभय दान देवे, उस देश के सामाजिक एवं धार्मिक मान्यताओं को उसी प्रकार प्रचलित रक्खें

और उक्त देश के संचालन हेतु उसी देश के उसी राजवंश में उत्पन्न कोई अपने पक्ष के व्यक्ति को करे (—मनु)"

नित्यप्रति सेना को शिक्षा देने और प्रशिक्षित सेना रखने को कहा गया है। रक्षा के हेतु किले को नितान्त आवश्यक कहा गया है, इनमें अनेक प्रकार के दुर्गों का उल्लेख है— धनुदुर्ग, महीदुर्ग (खाइयाँ), जलदुर्ग, वृक्षदुर्ग, मनुष्यदुर्ग, गिरिदुर्ग, प्रसिद्ध हैं। इनमें गिरिदुर्ग को सर्वोत्तम माना है। दुर्ग की आवश्यकता बतलाते हुए कहा गया है कि दुर्ग के भीतर रहनें वाला एक योद्धा सौ शत्रुओं से लड़ सकता है, और सौ योद्धा दस हजार शत्रुओं से, अतः राजा को दुर्ग अवश्य बनाना चाहिये——

एकं शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः।
शतं दससहस्त्राणि तस्माद्दुर्गं विधीयते ॥

और उस किले में अस्त्र, शस्त्र, धन, अन्न, वाहन, बुद्धजीवी, विद्वान, प्राविधिक आदि, यंत्र, घास, जल प्रचुर मात्रा में हों। किला अन्दर से खाइयों, गुप्तालयों तथा गुप्तमार्गों (सुरंगों) से पूर्ण होना आवश्यक कहा गया है।

पर-राष्ट्र नीति और षट्-गुण

युद्ध उपस्थित होने पर शासक को ६ गुणों में से एक को ग्रहण करने की सलाह दी है—

(१) सन्धि (परस्पर समझौता)—
- (अ) समान यान कर्मा (शत्रुपर संयुक्त आक्रमण हेतु)।
- (आ) असमान यान कर्मा (सम्मति से पृथक आक्रमण हेतु)।

(२) विग्रह (युद्ध)—
- (अ) स्वयंकृत (स्वयं युद्ध की घोषणा करना)।
- (आ) मित्रकृत (मित्र के सहायतार्थ युद्ध-घोषणा)।

(३) यान (शत्रु पर-चढ़ाई करना)—
- (अ) एकांकी (शत्रु पर अकेले आक्रमण)।
- (आ) संयुक्त (मित्र के सहयोग से संयुक्त आक्रमण)।

(४) आसन (शत्रु के बाहर घेरा डाले रहना)—
- (अ) दैवात् (शत्रु की सामग्री समाप्त जानकर)।
- (आ) मित्रानुरोधी (मित्र-राष्ट्र के अनुरोध पर)।

(५) द्वैधीभाव (तोड़-फोड़ करना) —

(अ) कार्यसिद्धर्थ (एक दल युद्ध करे, दूसरा तोड़-फोड़) ।

(आ) रक्षार्थ (राष्ट्र के राजा के रक्षार्थ एक दल, और दूसरा तोड़-फोड़) ।

(६) संश्रय (अन्य बली राष्ट्र का आश्रय लेना) —

(अ) बलवान् शत्रु के साथ युद्ध हेतु ।

(आ) पराजय की स्थिति में शरण-याचना ।

परराष्ट्र ..ति में अन्य राष्ट्रों के प्रति १२ प्रकार के व्यवहार का उल्लेख है—मध्यम, मित्र, अरिमित्र, विजीगिषु, मित्रमित्र, अरिमित्रमित्र, उदासीन, पार्ष्णिग्राह, आक्रंद, शत्रु, पार्ष्णिग्राहासार, और आक्रन्दासार, इनका विस्तार से वर्णन मिलता है ।

युद्ध में भी आदर्श

भारतीय संस्कृति आदर्शवादी है । युद्ध में शत्रु के प्रति भी अपने आदर्शों से वह विमुख नहीं होती । यद्यपि वैदिक काल से ही ऋग्वेद आदि और परवर्ती पुराणों में भी वायुयान एवं समुद्री यानों का उल्लेख मिलता है । ऋग्वेद १/२२/२, १/२/४, १/२५/७, १/४६/८, १/११६/४, १/११६/५, आदि में रथ-निर्माण, इच्छानुसार चलने वाले यान, द्युलोक पर्यन्त ले जाने वाले वायुयान, आकाश मार्ग से ऊँची उड़ान भरने वाले यानों का उल्लेख मिलता है । तथापि युद्ध में कहीं भी हवाई-हमले का वर्णन नहीं मिलता । जल में जलयानों द्वारा युद्ध करने का वर्णन मनुस्मृति में है, किन्तु वायुयानों से युद्ध का कोई उल्लेख नहीं है । शायद लोग इसके अर्थ यह लगाते हों कि भारतीय उस समय वायुयानों से सुसज्जित न हों -- किन्तु वैदिक साहित्य इस सन्देह को मिटाने में पूर्ण है ।

युद्ध में अन्तरिक्ष का उपयोग न होने का एकमात्र कारण भारतीय आदर्श वाद ही है । क्योंकि मनुस्मृति आदि नीति-ग्रंथों में कहा गया है —

"कूट आयुध (विषैले शस्त्र, छलपूर्ण अस्त्र), कर्णि के आकार के फलक-युक्त बाण, अथवा जिनका फलक अग्नि में तपाया हो—ऐसे आयुधों का प्रयोग शत्रु पर न करे ।

"कायर, हाथ जोड़ने वाले, खुले केश वाले (जो ठीक से सज्जित न हो), शस्त्र त्याग कर पृथक् बैठे, आत्मसमर्पण करने वाले, सोये हुए, कवच (बख्तर

रहित) रहित, नंगा, शस्त्र जिसके पास न हो, युद्ध से भागने वाले, घावों से विकल, जिसका आयुध टूट गया हो ऐसे व्यक्ति से युद्ध न करे, न मारे।

"एक व्यक्ति से केवल एक व्यक्ति ही युद्ध करे, एक व्यक्ति से एक से अधिक व्यक्ति न लड़े। शत्रु रथ हीन हो तो स्वयं भी रथ से उतर कर युद्ध करे, अर्थात् शत्रु की कुपरिस्थितियों का लाभ न उठाये।" इत्यादि।

स्पष्ट है, वायुयानों द्वारा युद्ध में इन आदर्शों का पालन नहीं हो सकता-उससे अनेक निरीह निरपराधियों का नाश होगा—एतदर्थ ही वायु-युद्ध वर्जित रहा है। वैसे देवासुर संग्राम के प्रसंगों पर पुराणों में सैकड़ों स्थलों पर वायु-युद्ध का वर्णन है—

'वायु युद्धेन युयुधे' (मार्कण्डेय पुराण) इत्यादि। अतः वायु युद्ध से हम प्राचीन काल में भी सर्वथा परिचित थे। इसी प्रकार पुराणों, महाभारत आदि में ब्रह्मास्त्र, पाशुपतास्त्र आग्नेयास्त्र जैसे महान शस्त्रों का उल्लेख मिलता है—किन्तु इनका प्रयोग आपत्काल या विशेष स्थिति में ही होता था। नीतिशास्त्र एवं राजशास्त्रों में इनका उल्लेख न होने का शायद यही कारण है।

आधुनिक युग के लिए भारत का यह आदर्श एक चुनौती है।

वायुयान निर्माण कला भारतीयों को ईसा से हजारों वर्ष पहले ज्ञात थी

एक युग था, जब विश्व भर में ज्ञान-विज्ञान के लिये भारत का नाम सर्वोपरि था, विदेशी आक्रमणों से भारत की स्वाधीनता ही नहीं गई अपितु ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्धित अमूल्य साहित्य भी नहीं बचा, धीरे-धीरे अब हमारे गौरव पर प्रकाश पड़ रहा है।

एक अमरीकी वैज्ञानिक डा० वोवमन आर० कोलन्नू ने सोलहवीं शताब्दि में लिखी गई एक संस्कृत पुस्तक की खोज की है जो भारतीय है। इस ग्रंथ के प्रणेता महर्षि अगस्त्य और ग्रंथ का नाम 'अगस्त्य-संहिता' है। उल्लेखनीय है कि भारतीय वैज्ञानिकों में महर्षि भारद्वाज का नाम सर्वोपरि है, महर्षि अगस्त्य इन्हीं के शिष्य थे।

उक्त पुस्तक का उल्लेख करते हुए अमेरिकन सोसायटी की सभा में डा० बोवमन ने कहा कि—"वायुयान निर्माण कला भारतीयों को ईसा से हजारों वर्ष पूर्व ज्ञात थी," आज जब कि कक्षाओं में आक्सीजन तथा हाइड्रोजन गैस

की खोज का श्रेय मि० पर्सटीली और मि० डी० कमूण्ड शी को दिया जाता है- इसके विपरीत भारत में आक्सीजन व हाइड्रोजन गैसों का पता हजारों वर्ष पहले लग चुका था। अगस्त संहिता में हाइड्रोजन गैस को 'ऊर्ध्वगा वायु' और आक्सीजन को 'प्राणाधार वायु' कहा गया है इन वायुओं का वर्णन विमानों के निर्माण के प्रसंग में आया है।

इसी ग्रंथ में सूर्य बैटरी तथा विद्युत उत्पन्न करने की भी विधियां हैं। तुत्थ, पारा, शीशा, तांवा और बुरादे के योग से प्रकाश व विद्युत उत्पन्न करने का सविधि वर्णन है, और इस विद्युत शक्ति से जल को हाईड्रोजन और आक्सीजन में बदलने, तथा हाईड्रोजन को रखने के लिये सुरक्षित थैले (गुब्बारे) बनाने की विधि भी दी है, यह रेशम, गूलर, खिरनी, मोम, गुड़ तथा चूने से बनते थे।

''भारद्वाज संहिता'' नामक दूसरे ग्रंथ में विमान निर्माण की महत्वपूर्ण सामग्री है, विमानों के चलने में पारद का प्रयोग वर्णित है। पुष्पक विमान भी पारद से चलता था।

धनुर्वेद : संक्षिप्त परिचय

किसी भी राष्ट्र की रक्षा में सेना की भूमिका महत्वपूर्ण और सर्वोपरि है। यदि हम प्राचीन भारत में राष्ट्र रक्षा और उसके साधनों के विषय में विचार करें तो हमें धनुर्वेद का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक होगा।

आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद (सँगीत-शास्त्र) और मंत्रवेद (यांत्रिक तथा तांत्रिक ज्ञान) की गणना उपवेदों में की जाती है—"आयुर्वेदो धनुर्वेदो गांधर्वो मंत्र गह्वर:" यदि वैदिक साहित्य का प्रयोजन परमार्थ से है, तो उपवेदों के साहित्य का प्रयोजन देह को परमार्थ साधना के योग्य बनाने में सहायता देना है। शारीरिक निरोगता, आत्मरक्षा, मनोरँजन और लोक-निर्वाह के साधनों को प्राप्त करना ही उपवेदों का लक्ष्य है। यहाँ पर विश्वामित्र प्रणीत 'धनुर्वेद' का सँक्षिप्त परिचय दे रहे हैं।

वैसे तो संस्कृत-साहित्य में सैन्यविज्ञान का सर्वत्र कुछ न कुछ वर्णन मिलता ही है, चारों वेद भी इससे अछूते नहीं हैं, फिर भी यजुर्वेद में इस विषय पर विशेष साहित्य है। धनुर्वेद में शस्त्रास्त्रों का विस्तृत वर्णन है। इससे प्राचीन भारत की शस्त्रविद्या पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

यजुर्वेद में सेना के शस्त्रों और शस्त्रधारियों के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया गया है। एक स्थान पर सेना, सेनापति, रथी, पैदल, कवच पहने हुए, सजे हुए, वाद्ययंत्र, दुन्दुभी बजाने वाले वीरों को नमस्कार है। पता चलता है कि वैदिक आर्य विविध आयुधों का प्रयोग करते थे। धनुर्वेद के अनुसार आयुधों में मुख्यत: दो विभाजन थे—अस्त्र और शस्त्र। स्वचालित यंत्रों को (चक्रादि) अस्त्र और हाथ से चलाये जाने वाले आयुधों को शस्त्र कहा जाता था। विस्तार से आयुधों के चार भेद थे :—

(१) मुक्त—स्वचालित आयुध (चक्रादि) अर्थात् अस्त्र।

(२) अमुक्त—तलवार आदि जो हाथ से चलाये जाते थे।

(३) मुक्तामुक्त—भाले आदि ऐसे यंत्र जो दूर से छोड़े भी जा सकें और हाथ में लेकर भी जिनसे लड़ा जा सके।

(४) मंत्रमुक्त—मंत्र द्वारा अभिमंत्रित शस्त्र, विशेषकर बाण आदि।

युद्ध-काल में ऐसे अँगरक्षक आयुधों का भी प्रचलन था जो योद्धा के मर्मस्थलों की रक्षा करते थे। कवच को वेदों में वर्म कहा गया है, सिर की रक्षा हेतु 'क्षिप्रा' प्रयोग में आती थी, जो लोहे की बनती थी। कहीं-कहीं पर हिरण्यक्षिप्रा का भी उल्लेख है, जिससे पता चलता है कि सोने की भी क्षिप्रा बनती होगी। प्रधान आयुध धनुष ही था, वाण के हेतु 'इषु' शब्द प्रयोग हुआ है, इन्हें निषँग, (तरकश) में रखा जाता था। ऋग्वेद के दाशराज्ञयुद्ध में तथा चारों वेदों में यत्र-तत्र जिन आयुधों का वर्णन हुआ है, उनमें धनुष-वाण, असि (तलवार), निषँग, वज्र, सृक् (बल्लम), हेति, प्रहेति, पाश (फन्दा), परशु (कुल्हाड़ी), ऋष्टि, सृक्ति, रम्भिणी (काँटेदार भाला), वाशी, (क्षुरा), शूल, दण्ड, अश्म (पत्थर), वर्म (कवच), विल्मि (शिरस्त्राण), क्षिप्रा (शिरस्त्राण) (हाथ और पैरों की रक्षा करने वाले दस्ताने), विद्यु, अशनि (गोले) आदि प्रमुख थे।

धनुर्वेद चार पादों में विभक्त है: इसके मुख्य प्रणेता विश्वामित्र हैं। 'दीक्षा' नामक प्रथम पाद में धनुष के लक्षण तथा उनके अधिकारी के गुणों का वर्णन है। धनुर्वेद शब्द केवल धनुष पर आधारित होते हुए भी—धनुष शब्द से ही चारों प्रकारों कें आयुधों का प्रतिनिधित्व करता है। युद्ध शस्त्रों को धारण करने वाले अधिकारियों, चार प्रकार की सेना (पैदल, रथी, अश्वारोही, गजारोही) के अधिकारियों की दीक्षा अभिषेक आदि का वर्णन भी प्रथम पाद में ही है। सभी प्रकार के आयुधों के लक्षण, गुरु के लक्षण तथा शस्त्र-सँग्रह करने की विधि 'सँग्रह' नामक दूसरे पाद में है। विशेष शस्त्रों को गुरु-परम्परा से सिद्ध करने की विधि, शस्त्रों का पुनरभ्यास तथा मंत्रमुक्त शस्त्रों की सिद्धि का विधान 'सिद्ध' नामक तीसरे पाद में वर्णित है और देवपूजा, शस्त्राभ्यास, विशेष शस्त्रों का प्रयोग आदि चतुर्थ 'प्रयोग' नामक पाद में वर्णित है।

धनुर्वेद की रचना का उद्देश्य क्षत्रियों द्वारा दुष्ट, डाकू, चोर, आततायी आदि वर्गों से अपनी प्रजा के रक्षार्थ युद्ध-विषयक ज्ञान प्राप्त करना ही है। लोभ मोहादि स्वार्थभूत प्रेरणा से बलवान सदैव निर्बल को दबाने की चेष्टा करता है, जिससे संघर्षों और युद्धों का उदय होता है। ऐसी दशा में राष्ट्र और आत्म-रक्षार्थ युद्ध तथा शस्त्र-विज्ञान की शिक्षा आवश्यक हो जाती है।

आचार्य द्वारा शुभमुहूर्त में सांस्कृतिक उत्सव के साथ धनुर्वेद-विद्या की दीक्षा दी जाती थी। दीक्षा के समय ब्राह्मण शिष्य को धनुष, क्षत्रिय को तलवार, वैश्य को भाला और शूद्र को गदा देने का विधान है।

युद्ध सात प्रकार के कहे गये हैं—धनुषयुद्ध, चक्रयुद्ध, कुन्तयुद्ध, खड्गयुद्ध, क्षुरयुद्ध, गदायुद्ध और बाहुयुद्ध। जो इन सातों प्रकार के युद्ध में प्रवीण हो उसे आचार्य, चारों में प्रवीण को भार्गव, दो युद्धों में प्रवीण को योद्धा, केवल एक युद्ध में प्रवीण को गणक कहा गया है।

प्रारम्भिक शिष्य के वेध तीन प्रकार के होते थे। शिष्य पहले पुष्पवेध (फूल), पुनः फलवेध, पुनः माँसवेध करता था। इन वेधों में उत्तीर्ण होने पर ही उसे वाण दिया जाता था। धनुष का प्रमाण यों तो साढ़े पाँच हाथ भी कहा गया है, किन्तु सामान्यतः चार हाथ का धनुष मानवों के हेतु उत्तम माना गया है, ताकि भारी धनुष होने से थकान न हो, और लक्ष्यभ्रष्ट न हो। धनुष की डोरी पट्ट-सूत्र से (जो कनिष्ठा उँगली बराबर मोटी हो) या हरिण, महिष के स्नायुयों, गाय के कान का चर्म अथवा आकवृक्ष की त्वचा से वनती थी।

वाण दो हाथ लम्बे और कनिष्ठा उँगली के तुल्य मोटे होते थे तथा गति के लिए उनमें कौआ, हंस, शश आदि के अँगुल लम्बे चार-चार पंख लगाये जाते थे। इन्हें स्नायु तन्तुओं से बाँधा जाता था। वाण तीन प्रकार के होते थे।

पुरुष—पीछे से मोटे (दृढ़ लक्ष्य भेदनार्थ)

स्त्री – आगे से मोटे (दूर तक फेंकने में सहायक)

नपुंसक—समान (ठीक लक्ष्य भेद के लिए)

बाणों के अग्रभाग में फल शुद्ध लोहे से बनते थे, जो सुन्दर, तीखी धार वाले, घाव रहित होते थे।

बज्रलेप (पुराकालीन एक रसायन) के द्वारा इन फलों को वाणों पर जोड़ा जाता था। फल भी कई प्रकार के होते थे, जिनमें प्रमुख यह हैं—

आरामुख—आरे के समान मुख वाला (चमड़ा छेदने को)

क्षुरप्र – छुरे की तरह नुकीला और पतला (वाण काटने को)।

गोपुच्छ—गाय की पूंछ के समान (लक्ष्यभेद के हेतु)

अर्द्ध-चन्द्र --अर्द्ध-चन्द्र के समान (मस्तक उड़ा देने को)।

सूचीमुख—सुई के समान नुकीला (कवच भेदने को)।

भल्ला—भाले की तरह (हृदय में प्रहारार्थ)।

वत्सदन्त—बछड़े के दाँत की तरह।

द्विभल्लक—दो भाले युक्त (वाण और धनुष की डोरी काटने को)।
कर्णिक—कांटेदार नोक वाला (मुख-भेदन के निमित्त)।
काकतुण्ड—कौवे की चोंच की तरह (लोहे की वस्तु भेदनार्थं)।
इसके अलावा और भी अनेक भेद हैं।

इन फलों में रसायन द्वारा धार दी जाती थी, (बुझाये जाते थे) रसायनों का लेप किया जाता था। धनुर्वेद में इसकी विधि और रसायन का वर्णन है। कुछ वाण आधुनिक बन्दूक की नरह 'नल-यंत्र' से भी छोड़े जाते थे। इन्हें 'नालीक' और वैसे छोड़े जाने वाले वाणों को 'नाराच' कहते थे। इन नालीक यंत्रों से वाणों का प्रयोग जहाँ लक्ष्य काफी दूर हो, ऊँचा हो, अथवा दूर से दुर्ग पर प्रहार करना हो, वहाँ होता था—

वाण छोड़ने के हेतु विभिन्न प्रकार के स्थानों और आसनों का भी वर्णन है। वाण छोड़ते के वक्त अंगुलियों की भी विभिन्न मुद्राएँ (पताका, वज्रमुष्टि, सिंहकर्ण मत्सरी, काकतुण्डी आदि) वर्णित हैं, जिन्हें विभिन्न उद्देश्यों हेतु प्रयोग किया जाता था।

धनुर्धारी के लिए चार लक्ष्य नियत हैं—

(१) चर (योद्धा स्थिर हो, किन्तु लक्ष्य चलायमान हो)।
(२) स्थिर (जहाँ योद्धा और लक्ष्य दोनों स्थिर हों)।
(३) चलाचल (लक्ष्य स्थिर हो और योद्धा चलायमान हो)।
(४) द्वयचलं (योद्धा और लक्ष्य दोनों चलायमान हों)।

इससे पता चलता है कि भारतीय योद्धा इस विद्या में बड़े निपुण थे। धनुर्वेद का कथन है कि पहले वायें हाथ से अभ्यास करना चाहिए, इससे शीघ्र सिद्धि होती है।

छोटे वाणों का लक्ष्य क्रमशः ६०, ४०, और २० धनुष तथा बड़े बाणों का क्रमशः ४०, ३०, १६ धनुष (१ धनुष = ४ हाथ) उत्तम, मध्यम और अधम कहा गया है। आधे अँगुल मोटी लोहे की चादर को, अथवा एक साथ २४ चमड़ों का जो धनुषवाण से वेध करे उसे दृढ़वेधी कहा गया है।

सामने से आते हुए वाण को जो अपने वाण से काट दे, वह 'वाण वेधी' कहा जाता था। किसी लकड़ी पर घोड़े की पूंछ के वाल से मक्खी को बाँध-कर, उस काष्ठ को दूर से कोई घुमाता रहे और उस मक्खी को जो वेध सके वह 'धनुर्धर' कहा गया है।

धनुर्वेद का मत है कि अभ्यास बना रहे। शिक्षोपरान्त एतदर्थ प्रतिवर्ष विजयादशमी के बाद दो माह शस्त्राभ्यास करना चाहिये। शब्दवेध की साधना और उसके प्रकार भी धनुर्वेद में वर्णित हैं।

मंत्र युक्त अस्त्र

धनुर्वेद में सबसे रहस्य और आश्चर्य की वस्तु है मंत्रमुक्त शस्त्रों की चर्चा। वाणों को विशेप साधना के उपरान्त मंत्र से अभिमंत्रित कर प्रयोग किया जाता था, इस क्रिया में कुछ ही सिद्धि प्राप्त कर पाते थे और इन अस्त्रों का प्रयोग भी विशेष स्थिति में ही होता था, न कि सामान्य रूप में।

ब्रह्मास्त्र (सामूहिक सेना का महा संहारक), आग्नेयास्त्र (शत्रुसेना में अग्नि लगा देने वाला), वायव्यास्त्र (आँधी उत्पन्नकारक), वारुणास्त्र (भयंकर जलवर्षा करने वाला), पाशुपतास्त्र (सामूहिक रूप से महान संहारक) आदि अनेक इस प्रकार के अस्त्र हैं, जिनकी तुलना आधुनिक अणुअस्त्रों से की जा सकती है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह केवल कल्पना है। आधुनिक युग में अणु-आयुधों को देखकर तो ऐसी कल्पना की ही जा सकती है, किन्तु उस युग में मौलिक रूप से ऐसी कल्पना भी सम्भव नहीं है। क्या पुराण, क्या रामायण, क्या महाभारत, सर्वत्र इन दिव्यास्त्रों की विशद चर्चा है। यद्यपि आज इनका कुछ भी अस्तित्व नहीं है, किन्तु इनका कोई न कोई रूप अवश्य रहा होगा। ये दिव्यास्त्र कोई नये प्रकार के अस्त्र न थे अपितु महान तांत्रिक साधना से सामान्य वाण पर मंत्र द्वारा ही इन्हें सिद्ध किया जाता था। आधुनिक युग में उस प्रकार की न तो साधना है और न सहनशीलता। अतः इनका अस्तित्व समाप्त होना स्वाभाविक ही है।

आकाशीय यानों द्वारा आकाश में युद्ध का वर्णन भी भारतीय साहित्य में अन्यत्र (मार्कण्डेयादि पुराणों में) हुआ है। रामायण में भी राम के पुष्पक विमान यात्रा की चर्चा है। धनुर्वेद में इस प्रकार के आकाशीय यानों का वर्णन नहीं मिलता। किन्तु ऋग्वेद १।११६।४–५ आदि में इच्छानुसार चलने वाले, द्युलोक पर्यन्त जाने वाले आकाश मार्ग से ऊँचे उड़ान भरने वाले तथा समुद्री यानों का उल्लेख है। यह आकाशीय यान वास्तव में थे या नहीं, इसका निर्णय इस लेख में विषयान्तर होगा। किन्तु इतना निश्चय है कि मानवी युद्ध में सामान्य रूप से ऐसे यानों का प्रयोग नहीं होता था और ऐसे यान होंगे भी तो एक-आध ही, जैसा श्रीराम के हेतु विमान स्वर्ग से भेजा गया था। हाँ, समुद्री बेड़े विद्यमान थे, इसकी पुष्टि पुरातत्व से भी होती है।

मंत्रयुक्त शस्त्र : दिव्यास्त्र

भारतीय युद्धों में जो हथियार प्रयोग में आते थे, वे दो श्रेणियों में विभाजित थे—एक अस्त्र और दूसरे शस्त्र। चक्र इत्यादि आकार के स्वचालित-यंत्रों को 'अस्त्र' और तलवार आदि हाथ से चलाये जाने वाले हथियारों को 'शस्त्र' कहा गया है। वैदिक-साहित्य में हमें केवल 'अस्त्र' और 'शस्त्र' दो प्रकार के ही आयुधों का प्राधान्य मिलता है, आगेकिन्तु चलकर आयुधों का विभाजन चार श्रेणियों में मिलता है—

तच्चतुर्विधमायुधं मुक्तममुक्तं मुक्तामुक्तं मंत्रमुक्तं च ।।
तत्र मुक्तं चक्रादि, अमुक्तं खड्गादि,
मुक्तामुक्त शल्यावांतर भेदादि,
मंत्रामुक्तं शरादि ।।
तत्र मुक्तमस्त्र मुच्यते, तदमुक्तं शस्त्रमित्युच्यते ।।

अर्थात् मुक्त—चक्रादि स्वचालित आयुध, बन्दूकें आदि।

अमुक्त—तलवार, गदा आदि जिन्हें हाथ में लेकर ही युद्ध हो सकता है।

मुक्तामुक्त—भाला आदि इस प्रकार के आयुध जिनमें शल्य लगा हो और दूर से फेंके जा सकते हों। धनुष-वाण आदि भी प्रायः इसी श्रेणी में आते हैं।

मंत्रमुक्त—मंत्र द्वारा अभिमंत्रित आयुध (वाण) जिनको 'दिव्यास्त्र' कहा जाता है। ब्रह्मास्त्रादि।

अग्निपुराण में पाँच श्रेणी बतलायी गयी हैं। वेदकालीन आयुधों में सबसे प्रधान आयुध धनुष और वाण ही है। चारों ही वेदों में धनुषवाण का विस्तृत गुणगान मिलता है। भारतीय साहित्य का प्रत्येक देव धनुर्धारी है। पुरातत्ववेत्ताओं को भी सिंधु घाटी के उत्खननों में तांबे तथा पीतल के शल्यमुख प्राप्त हुए हैं, इससे भी ईसा से तीन-चार हजार वर्ष पूर्व धनुष-वाण के प्रचलन की पुष्टि होती है। इसके अतिरिक्त वज्र, सूक, हेति नामक आयुधों का वर्णन

मिलता है, किन्तु ये दैवीआयुध (विद्युत चालित) थे। इनका प्रयोग मानवों द्वारा नहीं होता था। मानव आयुधों में परशु (कुल्हाड़ी), असि, खड्ग तलवार, क्षुर (छुरा), ऋषि (भाला), शूल, रम्भिणी (काँटेदार भाला), दण्ड, हल, पाश गदा, मूसल आदि प्रसिद्ध थे। अँगरक्षण हेतु कवच, शिरस्त्राण आदि का भी पर्याप्त उल्लेख है, अस्तु।

अन्य आयुधों की चर्चा तो होती रहेगी, यहाँ पर हमें उन मंत्रयुक्त (दिव्यास्त्रों) का परिचय प्राप्त करना है, जो प्राचीन युग में आधुनिक अणु-शस्त्रों के समान थे—

ब्रह्मास्त्र—शत्रु को व्यक्तिगत रूप से अथवा सैन्य का सामूहिक रूप से मारक, महान संहारक आयुध।

ब्रह्मदण्ड—सामूहिक रूप से शत्रु सेना संहारक आयुध।

ब्रह्मशिर—ब्रह्मदण्ड के ही समान कुछ कम प्रभाव का।

पाशुपतास्त्र—सामूहिक रूप से शत्रु सेना संहारक।

वायव्यास्त्र—सामूहिक रूप से शत्रु सेना संहारक। इस आयुध के प्रयोग से शत्रु सेना में प्रचण्ड वायु (आँधी) चलकर सेना नष्ट कर डालती थी।

आग्नेयास्त्र—महान संहारक, आधुनिक अणु-शस्त्रों के समान शत्रु सेना में अग्नि लगा देने वाला।

नारसिंहास्त्र—इसके प्रयोग से सैकड़ों सिंह स्वयमेव प्रकट होकर शत्रु-सेना का सफाया करते थे, शत्रु-सेना में भगदड़ मच जाती थी।

वारुणास्त्र—शत्रुसेसा में भयँकर जल एवं वर्षा तथा बाढ़ द्वारा भगदड़ मचा देने वाला।

सर्पास्त्र—इसमें प्रयोग से असँख्य सर्प स्वयमेव प्रकट होकर शत्रु-सेना को काटते थे। इससे भगदड़ मच जाती थी।

गरुड़ास्त्र—इसके प्रयोग से सैकड़ों गरुड़ स्वयमेव उत्पन्न होकर शत्रु-सेना को नीच खाने लगते थे।

वैष्णवास्त्र—इसका प्रयोग गरुड़ास्त्र के शान्त्यर्थ किया जाता था, यह यह शाँति अस्त्र है।

ब्रह्मास्त्रं प्रथमं प्रोक्तं द्वितीयं ब्रह्मदण्डकम् ।
ब्रह्मशिरस्तृतीयं च चतुर्थं पाशुपतं मतम् ॥
वायव्यं पंचम प्रोक्तमाग्नेयं षष्ठकं स्मृतं ।
नारसिंह सप्तमं च तेषां भेदाह्यनन्तकाः ॥

जैसा कहा गया है तेषां भेदाह्यनन्तकाः, यह शस्त्रों का रूप मात्र है, इनमें से प्रत्येक के सैंकड़ों भेद होते थे।

प्रयोग विधि

'धनुर्वेद' में इन शस्त्रों के प्रयोग का भी वर्णन है। इन सब में मुख्यतः गायत्री-मंत्र की प्रधानता है। उसके निर्धारित संख्या में जप और निर्दिष्ट विधि से मंत्रणा करने पर जो कि प्रत्येक शस्त्र के हेतु भिन्न-भिन्न है, शस्त्र प्रयोग का विधान है।

ब्रह्मास्त्र

दादिदन्ता गायत्री (ओं० दयादचोप्रनोयोयोधिहिमधीस्य वदेगोंभण्यंरेवंतुविसतदस्वोवर्भुभूरोम्) का विपरीत क्रम से पहले दस खरब जप करके, पश्चात् वाण को इसी मंत्र से अभिमंत्रित करे—

दादिदन्ताश्च सावित्री विपरीतां जपेत्सुधीः ।
जप्त्वा पूर्वं निखर्वंचाभिमन्त्र्य विधिवच्छरम् ।

संहार (ब्रह्मास्त्र को वापस लेने, शान्त्यर्थं, अथवा उसे काटने, प्रभावहीन करने) को यथाक्रम दादिदन्ता गायत्री का पूर्ववत् (ऊँ भूर्भुवः स्वः द्तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात्द्) क्रम से दस खरब जप करके मंत्रित शर छोड़े।

ब्रह्मदंड

ऊँ० प्रचोदयात् + यो नो धियः + धीमहिदेवस्य+ भर्गोवरेणियम्+सवितुस्तत्+अमुक शत्रु+ हन 'हन हुं फट्' मंत्र को प्रथम दो लाख जप करके मंत्रित शर छोड़े—

ब्रह्मदण्डं प्रवक्ष्यामि प्रणवं पूर्णमुच्चरेत् ।
ततः प्रचोदयाज्ज्ञेयं ततो नो यो धियःक्रमात् ॥
ततो धीमहिदेवस्य ततो भर्गो वरेणियम् ।
सवितुस्तच्च योक्तव्यममुकशत्रुं तथैव च ॥
ततो हन हन हुं फट् जप्त्वा पूर्वं द्विलक्षकम् ।
अभिमंत्र्य शरं तद्वद् प्रक्षिपेच्छत्रुषु स्फुटम् ॥
नश्यन्ति शत्रवः सर्वेयमतुल्या अपि ध्रुवम् ।
एतदेव विपर्यस्तं जपेत्संहारसिद्धये ॥

यहाँ भी इस शस्त्र को प्रभावहीन करने के हेतु पूर्वोक्त मंत्र को विपरीत जपना चाहिये। इसी प्रकार ब्रह्मशिर के सम्बन्ध में कथन है।

ब्रह्मशिरः प्रवक्ष्यामि प्रणवँ पूर्वमुच्चरेत् ।
धियो योनः प्रचोदयाद्भर्गोदेवस्य धीमहि ॥
तत्सवितुर्वरेणियँ शत्रून्मे हनहनेति च ।
हुँ फट् चैव प्रयोक्तव्यँ क्षिपेद्ब्रह्मशिरस्ततः ॥
पुरश्चर्या पुरःकृत्वा त्रिलक्षँ नियतः शुचिः ।
नश्यन्ति सर्वे रिपवः सर्वे देवासुरा अपि ॥
इदमेव विपर्यस्तँ प्रयोक्तव्यँ विकर्षणे ॥

अर्थात् 'ऊँ० धियो योनः प्रचोदयात्, भर्गोदेवस्य धीमहि, तत्सवितुर्वरेणियँ, शत्रून्मेहनहन, हुँ फट्'—मंत्र तीन लाख जप के बाद प्रयोग होता है। संहारार्थ (शान्त्यर्थ) इन पदों को विपरीत जपें।

पाशुपतास्त्र

दादिदन्ताश्च सावित्रीं प्रोच्य प्रणवमेवच ।
श्लींपशुहुँफट् अमुक शत्रुन् हन हन हुँ फट् ॥
जप्त्वापूर्वं द्विलक्षं च ततः पाशुपतंक्षिपेत् ।
पुनस्तदेव व्यस्तँ स्यात्सँहारे तां नियोजयेत् ॥

'ऊँ भूभुवः स्वः ऊँ द तत्सवितुर्वरेव्यं भर्गोदेवस्य धीमहि धियोयोनः प्रचोदयात्दश्लीं पशुहुंफट् अमुक शत्रुन् हन हनहुँ फट्' मंत्र दो लाख जपने पर प्रयोग होता है। संहारार्थं (शान्त्यर्थं) हेतु इसी को उलटे क्रम से जपे।

वायव्यास्त्र

ॐ वायव्ययावायव्यायाण्यौर्वायियावा (तथा) ।
'अमुकशत्रून्हनहन हुं फट्' चैव प्रकीर्तयेत् ॥
पूर्वमेव तथा जप्त्वा नियुतंद्वितयं तथा ।
पुनः संहाररूपेण संहारं च प्रकल्पयेत् ॥
अस्त्र वायव्यकं नाम देवानामपि वारणम् ॥

अर्थ स्पष्ट है। उपर्युक्त मंत्र दो करोड़ जपने पर प्रयोग होता है।

आग्नेयास्त्र

ओमग्निस्त्यतादृदुभूं च शिवंवनाश्वाविणि,
दृगादुतिदशरूपनः सदवेतिहादतितोयतिराम—
मसोहिवावान सुसेदवेदया, अमुक शत्रून्,
पूर्वोक्तां च पुरश्चर्यां कृत्वाशस्त्रोर्भि योजयेत।
इमं मंत्रं पुनर्व्यस्त संहारे चैव योजयेत् ॥

नारसिंहाश्त्र

'ॐ वज्रनख वज्रद्रष्टायुधाय महासिंहाय हुं फट्' इसको एक लाख जपकर प्रयोग करें। शान्त्यर्थ विपरीत क्रम से, इत्यादि।

शस्त्राभ्यासी के हेतु इन शस्त्रों का प्रयोग (शत्रु पर प्रयोग) और संहार (शत्रुपक्ष द्वारा इन शस्त्रों का अपने ऊपर प्रयोग होने पर उनसे बचाव एवं शान्त्यर्थ), दोनों क्रियाओं में निष्णात होना आवश्यक है। यह एक संक्षिप्त भूमिका है, वास्तव में इनके पीछे बड़ी जटिल क्रियाएँ हैं, जो जन-सामान्य के वश की बात नहीं, कहीं भी थोड़ी-सी क्रिया में त्रुटि होने पर स्वयं अपने और अपने पक्ष के हित में अनिष्ट हो सकता हैं।

यह उल्लेखनीय है कि गुरु लोग कड़ी साधना और परीक्षा के बाद इनकी गुप्त क्रियाओं को बतलाते थे। पुराण, रामायण और महाभारत में ऐसी कथाएँ यत्र-तत्र हैं। महाभारत के नायक अर्जुन को पाशुपतास्त्र की क्रिया कितनी साधना से प्राप्त हुई। शिष्य के धैर्य की परीक्षा और सहनशीलता का परीक्षण

आवश्यक है, अन्यथा कहीं दुरुपयोग न हो। इस प्रकार के शस्त्रों का प्रयोग आपातकाल में अन्तिम अवस्था में होता था, यह पुराण महाभारतादि से स्पष्ट है : सामान्यत: ये शस्त्र युद्ध में प्रयोग नहीं होते थे।

दूसरी ओर युद्धाभ्यासी को संहार-क्रिया का भी पूर्ण ज्ञान होना चाहिये।

प्रतिघातक शस्त्र

शत्रुपक्ष द्वारा प्रयोग में लाये गये शस्त्रों का जिन शस्त्रों से रक्षा हो, उन्हें प्रतिघातक शस्त्र कहते हैं। प्रतिघातक-शस्त्र (दिव्यास्त्रों के) दो प्रकार के हैं—

उसी शस्त्र की संहार-क्रिया द्वारा शांति।

दूसरे प्रकार का दिव्यास्त्र छोड़कर प्रतिघात जैसे—

(अ) आग्नेयास्त्र का वारुणास्त्र से (आग पानी से बुझेगी)।

(आ) वारुणास्त्र का वायव्यास्त्र से (वायु से बादल हटेंगे)।

(इ) वायव्यास्त्र का सर्पास्त्र से।

(ई) सर्पास्त्र का गारुड़ास्त्र से।

(उ) गारुड़ास्त्र का वैष्णवास्त्र से।

(ऊ) पाशुपतास्त्र का ब्रह्मास्त्र से इत्यादि।

आधुनिक युग में इन दिव्यास्त्रो को कुछ कोरी कल्पना भी मानते हैं, परन्तु वास्तव में यह कल्पना नहीं है, सत्य है। हाँ आधुनिक मानव के लिए यह वास्तव में काल्पनिक बन गये हैं, क्योंकि इतनी साधना- इतनी सहनशीलता, इतना व्यापक ज्ञान, इन जटिल-क्रियाओं का ज्ञान आज के मानव में नहीं हैं। यह महानतम साधना है, इन सभी दिव्यास्त्रों का प्रयोग वाण पर ही होता है, इसी हेतु वेदों में धनुर्वाण की इतनी महत्ता है। 'शुक्रनीतिसार' और कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में वृहन्नलिका (तोप), लघुनालिका (बन्दूक), सर्वतोभद्र (मशीनगन के समान), जामदग्न्य (एक स्वचालित यंत्र मशीनगन के ही समान वाण वर्षा करने वाला), पर्जन्यक (आग बुझाने का आयुध) आदि आधुनिक यंत्रों के समकक्ष आयुधों का वर्णन है। सच्चाई तो यह है कि भारत की ऐतिहासिक सामग्री आज भी अधूरी और परावलम्बित है, इसके लिए विशद अनुसंधान की आवश्यकता है।

प्राचीन भारत में लोकतंत्रीय शासन प्रणाली

भारत में लोकतांत्रिक शासन प्रणाणी अत्यन्त प्राचीन है, विश्व के सबसे प्राचीन साहित्य—वेदों में इसके प्रमाण उपलब्ध हैं। शिवजी के पुत्र श्रीगणेश ऐसे सर्वप्रथम व्यक्ति हैं, जिन्होंने समाज को एक समूह या 'गण' के रूप में संगठित किया था और श्रीगणेश ही सर्वप्रथम देवगणों के गणाधिपति थे, इसी करण उन्हें 'गणपति' कहा गया है। वेदों में "नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्चवो" इत्यादि के द्वारा वैदिक गणों तथा गणपति का अभिवादन किया गया है।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि सर्वप्रथम गणों या संघों की स्थापना सामाजिक एकता के उद्देश्य से की गयी होगी, और बाद में जब समाज के संचालन हेतु राज्य सत्ता की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी तब लोकतन्त्रीय शासन प्रणाली की स्थापना हुई होगी। महाभारत में राज्योत्पत्ति के सिद्धान्त का विस्तार से वर्णन हुआ है और कहा गया है कि सृष्टि के आरम्भ में जब जनसंख्या बहुत ही सीमित थी तब न तो कोई राजा था और न कोई राज्यसत्ता नामक संस्था ही थी, क्योंकि उस समय में कोई अपराधी ही नहीं होता था, अतः दण्डाधिकारी, राजा या राज्य सत्ता की आवश्यकता ही नहीं थी—

न राज्यो न च राजासी, न दंड्यो न च दंडिका:।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वाः, रक्षतिस्म परस्परम्॥

क्योंकि इस युग में प्रजा आस्तिक एवं धर्मभीरु होती थी, अतः समाज में अपराध की प्रवृत्ति ही नहीं थी। ज्यों-ज्यों प्रजा में धर्म भावनाका ह्रास होता गया, त्यों-त्यों अपराध और अराजकता बढ़ने पर सामाजिक सुरक्षा एवं उसके संचालन हेतु गणतन्त्रीय शासन की स्थापना आवश्यक हुई।

वैदिक काल से लेकर गुप्तकाल तक के विस्तृत काल खण्ड में ऐतिहासिक दृष्टि से जहाँ बड़े-बड़े प्रभावशाली राजा—महाराजाओं का वर्णन मिलता है वहीं बहुत से गणराज्यों का नाम भी प्राप्त होता है। कुछ इतिहासकारों का यह कहना कि भारत में लोकतन्त्र की स्थापना बहुत प्राचीन नहीं है—पक्षपातपूर्ण,

अज्ञानतापूर्ण तथा मिथ्या है। वास्तविकता तो यह है कि भारत ही ऐसा राष्ट्र है जिसमें सर्वप्रथम लोकतन्त्रीय शासन प्रणाली ने जन्म लिया।

ऋग्वेद से पता चलता है कि उस युग में समाज का प्रथम संगठन "विदथ" नाम का था, इसके वाद जो शासन तन्त्र का संचालन करती थी वह "सभा" या "समिति" कही जाती थी। समिति जन-साधारण की राष्ट्रीय सभा थी। सभा और समिति को प्रजापति की कन्या या दो या दो बहनों का रूप माना गया है—वह दोनों संगठन हमारी वर्तमान संसद के दोनों सदनों (लोकसभा और राज्य सभा) का रूप रहा होगा। इन दोनों सदनों को मिला कर "नारिष्टा" कहा जाता था। वेदों के भाष्यकार आचार्य सायण के अनुसार "नारिष्टा" ऐसे निर्णय या आदेश को कहा जाता था जिसका निर्णय सामूहिक रूप से किया जाता था और इस निर्णय का उल्लंघन नहीं किया जा सकता था।

लगभग ५०० वर्ष ईसापूर्व पाणिनि के समय में 'गण' का अर्थ 'संघ' था। पाणिनीजी ने उस समय व्याकरण में 'संघ' के विविध रूप बनाने के जो उदाहरण दिये हैं, उससे उनके समय में लोकतन्त्रीय संघ राज्यों की पुष्टि होती है, उन्होंने अपने व्याकरण में वृक, दाम्रनि, त्रिगर्त, कोडोपरथ, दाण्डकी, कौष्टिकी, जालमानि, ब्रह्मगुण, जानकी योधेय, प्रश्न आदि अनेक लोकतन्त्रों के नाम गिनाये हैं।

पन्तजलि का कथन है कि एक समूह या संस्था होने के कारण इन्हें 'संघ' कहा जाता है।

पाणिनिके समय में ही (४००—५०० वर्ष ई. पू.) बौद्ध साहित्य में संघीय लोकतान्त्रिक शासन तन्त्रों का स्पष्ट वर्णन मिलता है। स्वयं बुद्ध का जन्म लोकतन्त्रीय राज्य में हुआ था। उस शाक्य, लिच्छवी, कोलिय, विदेह, मल्ल, अल्लकप्प, भग्ग, पिम्पलोचन आदि प्रसिद्ध गणराज्य थे। तत्कालीन जैन साहित्य में भी इसी प्रकार के गणराज्यों का उल्लेख है।

ईसवी पूर्व ३००—४०० वर्ष पूर्व के यूनानी लेखकों ने भारत के अनेक राज्यों को स्वाधीन, स्वतंत्र, स्वराज्यभोगी कहा है। मेगस्थनीज ने उनके लोक-तान्त्रिक स्वरूप का वर्णन विस्तार से किया है।

अर्थशास्त्र के प्रणेता आचार्य कौटिल्यने (३२३—२०० ई.) भी काम्भोज, सुराष्ट्र, श्रेणी आदि गणराज्यों का उल्लेख किया है। उनके समय में राजतन्त्र

वाले भी राज्य थे। क्षुद्रक, गान्धार, मालव, वृज्जि, राष्ट्रक, भोज, मौर्य आदि गणराज्य उस समय समृद्ध व शक्तिशाली थे। शुंगकाल में भी 'योधेय' आदि बलशाली गणराज्यों का अस्तित्व था, जिनकी मुद्राएं सतलज व यमुना के मध्यवर्ती प्रदेश में उपलब्ध हुई हैं। इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि गुप्त साम्राज्य की स्थापना भी लिच्छवियों के सहयोग से ही हुई थी—जो लोकतंत्रीय थे।

—***—

कतिपय प्राचीन आयुध और उनका स्वरूप

भारत के प्राचीन अस्त्र-शस्त्रों की चर्चा तो सर्वत्र होती है, लेकिन इन अस्त्रों की रूपरेखा कैसी थी, इस पर अनेक मत हैं। कुछ लोग पूर्वापरज्ञान के बिना कल्पना द्वारा अथवा नाम-सादृश्य देखकर मनमाना अर्थ कर लेते हैं। उदाहरण के लिए, कुछ लोग "प्राश" को फरसा कोई पाश (फन्दा) और "शक्ति" को शूल का ही एक रूप मानते हैं, जबकि शक्ति एक प्रकार से आधुनिक टैंक एवं तोपों के समान ममत्वपूर्ण आयुध है।

संस्कृत-साहित्य में जिन पुराने अस्त्र-शस्त्रों का नाम मिलता है, उनमें से कुछ तो ऐसे हैं, जिन्हें आज भी आसानी से समझा और पहचाना जा सकता है। लेकिन देशकाल के अनुसार अब तो न तो पुराने अस्त्र-शस्त्र उपलब्ध ही होते हैं और न इस युग में उनका महत्व ही है। फिर भी बहुत से ऐसे अस्त्र-शस्त्रों का नाम संस्कृत साहित्य में उपलब्ध होता है, जिनकी रूपरेखा की कल्पना करना आसान नहीं है। भले ही आधुनिक युग में इन प्राचीन अस्त्र-शस्त्रों का महत्व न हो, लेकिन हमको अपने साहित्य, इतिहास एवं राष्ट्र की गरिमा के प्रतीक इन आयुधों के बारे में ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। यहां सप्रमाण कुछ आयुधों का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

१—भल्ल—प्राचीन युद्ध के योग्य एक शस्त्र विशेष। भल्लक या भल्ल नाम से जनता में धारणा है कि वर्तमान "भाला" ही भल्ल है, लेकिन प्राचीन साहित्य के अनुसार भल्ल भी बाण की तरह धनुष से ही छोड़ा जाता था। यादव कोष में कहा है 'स्नुहीदलफलो भल्लः' अर्थात् जिस बाण का फल सेहुंड या सेंढ के पत्ते के आकार को हो वह "भल्ल" है।

२—प्रास प्राचीन शस्त्र विशेष। इसके बारे में शुक्र नीति में कहा है—

'प्रासः स्यात्तु चतुर्हस्त दण्डयुक्त क्षुराननः' इससे ज्ञात होता है कि इसका फल छुरे के समान होता था, उस पर चार हाथ का डण्डा लगा होता था। इस वर्णन के अनुसार वर्तमान बर्छी की कल्पना की जा सकती है, परन्तु निश्चय नहीं कहा जा सकता कि बर्छी का ही "प्रास" नाम है।

३—कुन्त—यह भी प्रास के समान ही एक शस्त्र है, विशेषता यह है कि इसका डण्डा चार हाथ के बजाय दस हाथ का होता है और फल पतला लम्बा जड़ से मोटा आगे सुई की नोक की तरह पतला गोल होता है—

दशहस्तमितः कुन्तः फालाग्रः शंकुबुध्नकः ।

(शुक्रनीति ४।७।२१५)

कुछ लोग अनुमान करते हैं कि आधुनिक "बल्लम" ही कुन्त है ।

४—पाश—पाशास्त्र दो प्रकार के हैं, श्री रामदास सेन ने 'भारत रहस्य' नामक पुस्तक में स्पष्ट किया है कि वैशम्पायनजी के धनुर्वेद में पाश का जो लक्षण है, आग्नेय धनुर्वेद में उसका दूसरा ही रूप है, इससे दो प्रकार के "पाश" होना सिद्ध होता है ।

(अ) वैशम्पायनजी के धनुर्वेद में पाश—

पाशः सूक्ष्मावयवो लौहधातु त्रिकोणवान् ।
प्रादेश परिधिः सीसगुलिकाभरणांचितः ॥

अर्थात् यह पाश लोहे के बड़े सूक्ष्म-सूक्ष्म टुकड़ों से बनता है, त्रिकोणाकार, लगभग ११ अंगुल परिधि का होता है तथा इसमें शीशे की गोलियां भरी रहती हैं । इससे प्रतीत होता है कि यह आधुनिक अस्त्रों के समान कोई शक्तिशाली अस्त्र था, जिसमें शीशे की गोलियां प्रयुक्त होती थीं ।

(आ) आग्नेय धनुर्वेद का पाश इस प्रकार है :—

दश हस्तो भवेत्पाशो वृत्तः करमुखस्तथा ।
गुणकार्पासमुंजानांमर्कस्नायव चर्मणाम् ॥
अन्येषांसुदृढ़ानां च सुकृतं परिवेष्टितं ।
तथा त्रिशत्समं पाशं बुधः कुर्यात्सुवर्तितम् ॥

अर्थात् कपास, मुंज, आक की छाल, स्नायु, चमड़ा आदि दृढ़ वस्तुओं की बटी (गुण) हुई दृढ़ रस्सी जिसके ३० सूक्ष्म तार मिलाकर मजबूती से बाटकर बनाया जाय । यह वृत्त अर्थात् गोल और लम्बाई में दस हाथ हो । इसकी क्रिया के बारे में कहा है—

कर्तव्यं शिक्षकेः स्थानं तस्य कक्षासु वै सदा ।
वामहस्तेन संगृह्य दक्षिणेनोद्धरेत्तत ॥

कुण्डलस्याकृतिं कृत्वा भ्राम्यैकेन शिरोपरि ।
क्षिपेत्-वल्गितेच प्लुते चैव तथा प्रव्रचितेषु च ।।

समयोग विधिज्ञात्वा प्रयुज्जीत सुशिक्षितः ।
विजित्वा तु यथान्यायं ततो बन्धं समाचरेत् ।।

कट्या बध्वा ततःखंग वामपार्श्वविलम्बिनम् ।
दृढ़ विगृह्य वामेन निष्कर्षे दृक्षिणे न च ।।

तात्पर्य यह है कि इसे कक्षास्थान में (जनेऊ की भांति कंधे में) रखा जाता है, चलाते समय एक बार घुमा कर कुण्डलाकार शत्रु के सिर पर डाला जाता है, जिसमें वल्गन्, प्लवन और प्रवजन तीन क्रियायें हैं। इच्छानुसार इससे बांधकर बाद में तलवार से बध किया जाता है। इसके अलावा धनुर्वेद में पाश की और भी अनेक क्रियाओं का वर्णन मिलता है।

५—ऋष्टि—भारतीय अस्त्र-शस्त्रों में यह सबसे प्राचीन है, जिसका वर्णन ऋग्वेद में आया है (५।५२।६) जिसमें कहा गया है कि बलशाली मरुद्गण दीप्तिमान ऋष्टि को चलाते हैं। लेकिन ऋष्टि के बारे में अधिक विवरण नहीं मिलता। पाश्चात्य विद्वान विल्सन ने ऋष्टि का अर्थ 'सोन्सेज' किया है।

६—गदा—यह प्रचलित और सुपरिचित शस्त्र है। कहा गया है कि यह हृदय तक लम्बी (जमीन से) बड़े मूठ की तथा अठ पहलू (आठ धारियों वाली) होतीं हैं—

'अष्टास्रा पृथुबुध्ना तु गदा हृदय सम्मिता।'

सामान्यतः गदा वजन में २० सेर की होती है।

७—शक्ति—यह भी प्राचीय अस्त्र है। संस्कृत साहित्य में इसके आकार के प्रति इस प्रकार वर्णन मिलता है—

शक्तिर्हस्त द्वयोत्सेधा तिर्यंगातिरनाकुला ।
तीक्ष्णजिह्वाग्र नखरा घण्टानाद भयंकरी ।।

व्यादितास्याऽति नीला च शत्रुशोणित रंजिता ।
अस्त्रमालापरिक्षिप्ता सिंहास्याघोरदर्शना ।।

वृहत्सरुर्दूरगमा पर्वतेन्द्र विदारिणी ।
भुजद्वय प्रेरणीया युद्धेजय विधायिनी ।।

अर्थात् दो हाथ ऊंची, तिरछी गतिवाली, जिसमें सिंह के समान भयंकर मुख हो और तीखी जिह्वा (नोक) और नाखून के आकार भी हों, घंटा आदि के समान भयंकर नाद भी करती हो, नीले रंग की, शत्रु के रक्त से रंजित, जिसमें स्वचालित आयुध जड़े हों (अस्त्र—स्वचालित अथवा यंत्र चालित आयुध), बहुत दूर जाने वाली, बड़े-बड़े पर्वतों को तोड़ने वाली, युद्ध में जय देने वाली तथा दो हाथों से चलायी जाने वाली है।

अब इसकी क्रिया के बारे में देखिये—

> तोलनं भ्रमणं चैव वल्गनं नामनं तथा।
> मोचनं भेदनं चेति पमार्गाः शक्ति संश्रिताः ॥

अर्थात् पहले उत्तोलन (उठाना) फिर घुमाना, ऊपर घुमाकर फिर नीचे को लाना, निशाना छोड़ना और निशाने की वस्तु का भेद करना यह छह, क्रमशः शक्ति की क्रिया है।

शक्ति के इस वर्णन को देखकर स्वतः यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक तोप तथा टैंकों की तरह ही यह कोई आयुध था। भले ही उस समय इसके रूप और शक्ति में भिन्नता हो, लेकिन इसका भी कार्य वही था जो आज के युग में तोप और टैंकों का है। भारतीय साहित्य से ज्ञात होता है कि शक्ति का प्रयोग तभी होता था जब अन्य छोटे अस्त्र-शस्त्र निष्फल हो जायं।.

८—तोमर—इस नाम से तीन प्रकार के आयुधों का वर्णन संस्कृत साहित्य में उपलब्ध होता है।

(अ) वैशम्पायनजी के धनुर्वेदानुसार यह एक लोहे के फलवाला काण्ठ दण्ड युक्त तीर है।

(आ) शारंगधर के अनुसार यह लोहे के फलदार पतला तीर है—

'फलवच्छीर्षं देशः स्यात्तोमरस्त्वायसस्तथा'।

लेकिन इसके साथ ही उनका कथन है कि इसका फल सर्प के फण के आकार का होता है।

(इ) अग्निपुराण के धनुर्वेद में दूसरे ही प्रकार के तोमर का उल्लेख मिलता है—

तोमरः काष्ठकायः स्याल्लौहशीर्षः सुपुच्छवान् ।
हस्तत्रयोन्नतांगश्च रक्तवर्णस्त्ववक्रगः ॥

दृष्टिघातं भुजाघातं पार्श्वघातं द्विजोत्तम ।
ऋजुपक्षेपणापातं तोमरस्य प्रकीर्तितम् ॥

अर्थात् यह लकड़ी का बना होता है, जिसमें शीर्ष लोहे का होता है, पूंछदार होता है, तीन हाथ लम्बा, लाल रंग का, सीधे जाने वाला होता है। जो शिर, भुजा, पार्श्व, पीठ आदि में प्रहार करने के काम आता है। कुछ लोगों का मत है कि तोमर एक प्रकार का तीर ही है, लेकिन अग्नि पुराण के इस आकार वर्णन और प्रक्रिया को देखकर ऐसा अनुमान होता हैं कि यह भी गदा के आकार से कुछ भिन्न (आगे से मोटा होकर पीछे का क्रमशः पतला पूंछ के समान, किन्तु साथ ही जिसके अग्रभाग में लोहा जड़ा हो) आकार का हाथ से चलायें जाने वाला आयुध है।

९-खड्ग—यह आधुनिक तलवार ही है। संस्कृत साहित्य के अनुसार ब्रह्मा की यज्ञाग्नि से प्रकट हुआ और क्रमशः ब्रह्मा, शिव, विष्णु, मरीचि, सप्तर्षि, इन्द्र के पास रहा। कालान्तर में पृथ्वी पर कृपाचार्य को प्राप्त हुआ और महाभारत के बाद पृथ्वी पर इसकी प्रसिद्धि हुई।

१०-शूल—यह चिरपरिचित एवं प्रसिद्ध आयुध है, जो अब तक भी यथापूर्व रूप में मिलता है।

प्राचीन भारत में शासन तंत्र

प्राचीन भारत में जब हम राष्ट्र रक्षा के साधनों और उसकी व्यवस्था के बारे में विचार करते हैं तो सर्वप्रथम हमें यह देखने को मिलता है कि राष्ट्र रक्षा का दायित्व मुख्यतः राजा पर है। इसलिये सर्वप्रथम हमें प्राचीन भारतीय राजतंत्र के बारे में ज्ञान होना आवश्यक है।

हमारे वैदिक साहित्य में राजा के लिये प्रधानतः राजन्य, राज्ञ, अथवा राजा शब्द ही प्रयुक्त हुए हैं, इसी प्रकार रानी के लिये राज्ञी और सम्राज्ञी शब्द बहुधा प्रयुक्त हुए हैं। कुछ स्थलों पर राजा के लिये सम्राट शब्द भी मिलता है। इन शब्दों का प्रयोग वेदों में यत्र-तत्र इतना अधिक है कि इसके लिए उद्धरण देने का महत्व ही नहीं है, जैसे—'ब्राह्मणानां राजा' 'राजन्यः शूर०' 'बाहू राजन्यः० 'राज्ञसिप्राची०' 'ब्रह्म राजन्याभ्यां०' इत्यादि जैसे राजा के लिये प्रयुक्त हैं तैसे ही 'साम्राज्ञी श्वसुरे भव०। इत्यादि सम्राज्ञी शब्द रानी का बोधक है। लेकिन राजा, राज्ञ यह सामान्य राजा के लिए ही सामान्यतः प्रयुक्त होते हैं, विस्तार से वैदिक साहित्य का अनुशीलन करने पर राजाओं की उपाधि और उनके नाम भी उनकी सामर्थ्य तथा क्षेत्र के अनुसार बदलते प्रतीत होते हैं जो क्रमशः राजाधिराज, महाराज, सम्राट्, विराट्, एकराट् तथा सार्वभौम आदि नाम से प्रयुक्त हुए हैं, इसके लिए एक दो ऋचा ही पर्याप्त महत्व की है—

'राजाधिराजाय प्रसह्य साहिने ....
कुबेराय वैश्रवणाय महाराजाय ते नमः'

(इसमें कुबेर को राजाधिराज, महाराज की उपाधि से भूषित किया गया है)।

"स्वस्ति साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्य राज्यं महाराजमाधिपत्यमयं समन्तपर्य्यायीस्यात् सार्वभौम . ... पृथिव्यै समुद्रपर्य्यन्तायाऽ एकराडिति०" इससे स्पष्ट है कि साम्राज्य के विस्तार के साथ उपाधि भी बदलती जाती थी। इससे यह भी स्पष्ट है कि राष्ट्र के एक छोर से दूसरे छोर

तक अकण्टक एकछत्र राज्य का स्वामी 'सार्वभौम' और समुद्र पर्यन्त जिसका राज्य विस्तार हो उसे 'एकराट्' कहा गया है। गोपथ ब्राह्मण ग्रंथ के अनुसार राजसूय नामक यज्ञ करने वाला राजा, वाजपेय यज्ञ कर्त्ता सम्राट्, अश्वमेध यज्ञकर्ता स्वराट्, पुरुषमेधकर्त्ता विराट् और सर्वमेध यज्ञ जो करे वह सर्वराट् है। आपस्तम्ब के श्रौतासूत्रानुसार अश्वमेध यज्ञ का अधिकारी सार्वभौम राजा ही है।

राज्य के लिये भी 'राष्ट्' शब्द वेदों में विभिन्न स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है—

'यो राष्ट्रदा०' 'अहं राष्ट्री संगमनी'
'जायतामाराष्ट्रे' 'सुराष्ट्रे ऽस्मिन्'

इससे सिद्ध है कि वैदिक काल में ही भारत में राज्यों और राजाओं का सुव्यवस्थित अस्तित्व था और आदर्श राजतंत्र विद्यमान था।

राजा का चयन

राष्ट्र और राजा की विद्यमानता से अब यह प्रश्न उठता है कि राजा का चयन किस प्रकार होता था? कुछ विद्वानों का विचार वैदिक राजनैतिक संगठनों को देखकर ऐसा है कि राजा की नियुक्ति चयन से होती होगी। संक्षेप में वेदों में जो जन संगठनों की चर्चा मिलती है उसके अनुसार सबसे छोटी इकाई एक व्यक्ति था। व्यक्तियों से मिलकर गृह बनते थे, अनेक गृहों से मिलकर ग्राम बनते थे (यह क्रम अभी तक विद्यमान है और नाम भी वही हैं) अनेक ग्रामों के समूह को 'विश' और अनेक 'विशों' के मिलने से 'जन' बनता था (अनुमान किया जाता हैं कि जन आधुनिक जिलों अथवा इससे बड़े होते होंगे) इस 'जन' को ही जनपद भी कहा गया है। जनपद का नेता राजा था। पश्चिमी भारत का पाञ्चाल (जो आधुनिक पंजाब और काश्मीर है) पाँच जनपदों से मिलकर बना है, इसका नाम पंचजन भी है ,विश्वेदेवाऽसो अदितिः पंचजनाः' मूलतः आर्यों के पाँच ही जनपद थे जो अनु, द्रुह्यु, यदु, तुर्वस और पुरु नाम से प्रसिद्ध थे—ऐसा भी कुछ विचारक मानते हैं। लेकिन बाद के सूत्रों और स्मृतियों के अनुसार आर्यों के दस वंशधर मूलतः (मनु के नौ पुत्रों से नौ वंश तथा इला कन्या से दशवां) थे। अतः ऐसा प्रतीत होता हैं कि भरत, कुरु, तृत्सु, सृंजय और क्रिवि नामक जो और पंचजनों का उल्लेख वेदों में मिलता

है वे भी आर्य ही थे। आर्यों के ये जन सिंधु नदी के आसपास पाञ्चाल में रहते थे। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार 'क्रिवी' भी पंचजनों में एक थे, इससे स्पष्ट है कि मूलतः आर्यों के दस वंश थे, संभव है उनके दो दल हो जाने से दो पंचजन हो गये हों। पुरु नामक जन पुरूरवा से और अनु आनर्त के वंशधर कहलाये इसी प्रकार अन्य भी। सुप्रसिद्ध ऋग्वैदिक युद्ध 'दाशराश युद्ध' मे दस राजाओं ने भाग लिया था, इसीलिये वह 'दाशराज्ञ युद्ध' कहलाया। कुछ लेखकों ने ऐसा मत व्यक्त किया है कि दस राजाओं ने मिलकर राजा सुदास पर आक्रमण किया था—यह मत युक्ति संगत नहीं है। वास्तव मे तब आर्यों के दो दल हो चुके थे। एक दल जो अनु आदि पंचजनों का था उसके नेता विश्वामित्र थे (ऋग्वेद के वशिष्ठ और विश्वामित्र पुराणों एवं रामायण से भिन्न हैं) और दूसरे भरतादि पंचजनों के नेता वशिष्ठ थे (यहाँ नेता का अर्थ पुरोहित से है जो उन दिनों राजा को मंत्रणा देते थे) उल्लेखनीय है कि राजा सुदास भरतों के राजा थे। यह विषय इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक माइथोलॉजी के लेखक पाश्चात्य विद्वान कीथ ने द्रुह्यु, तुर्वस, भृगु आदि जनों को सुदास का शत्रु सिद्ध किया है।

इससे स्पष्ट है कि यह आर्यों के दो दलों का ही परस्पर युद्ध था।

हमारा मूल विषय राजा के चयन का था, अस्तु इस प्रकार गृह, ग्राम, विश, जनपदों के आधार से कोई राजा का चयन मानते हैं।

दूसरी ओर वेदों में विशेषतः ऋग्वेद में 'सभा' और 'समिति' शब्द भी आये हैं और उनसे विदित होता है कि उक्त समय में उच्च कोटि की उन्नत समितियों तथा सभाओं का अस्तित्व था। कुछ विचारक मानते हैं कि समिति और सभायें राजनैतिक संगठन थे, लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं है। विषयान्तर हो जाने से यहाँ विस्तार से प्रकाश डालना सम्भव न होगा। वास्तव में सभा और समीतियों का गठन सहकारिता के आधार पर होता था, वे हमारी पंचायत प्रणाली के समान थे, जिनका कार्य सामाजिक व आर्थिक सुधार का था, शासन अथवा राजनीति से तत्कालीन सभा—समीतियों का कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता। इस विषय में कीथ का मत युक्ति संगत है कि 'सभा उस स्थल को कहा जाता था जहाँ समिति की मंत्रणा तथा अन्य सामाजिक कार्य होते थे और समिति जनता की आवश्यकतायें पूरी करती थी।'

ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर क्रमागत वंशधर राजाओं का ही वर्णन मिलता है, जैसे—वध्रयश्व, दिवोदास, सुदास आदि। इससे स्पष्ट है कि राज्यसत्ता प्रायः वंशानुसार ही चलती थी, लेकिन यदि कोई स्वेच्छा से (कारण आगे कहेंगे) या अयोग्यता से राज्य त्याग करे तो दूसरी बात है अथवा यदि राजा निरंकुश, प्रजा का अहित चिन्तक हो तो ऐसी दशा में प्रजा उसे सत्ता से च्युतकर दूसरे राजा का चयन भी कर सकती थी, जैसा कि परवर्त्ती पौराणिक साहित्य में राजा वेन को प्रजा द्वारा सत्ता से च्युत करने की कथा है। विचारकों का अनुमान है कि ऐसी स्थिति में 'विश' राजा का चयन करते थे। उत्तर वैदिक काल में भी दुष्टऋतु नामक राजा को प्रजा द्वारा च्युत करने का उल्लेख मिलता है।

राजा : जो रक्षा करे

राजवंश में उत्पन्न होने पर ही कोई राज्याधिकारी हो जाय, यह वंशगत राजा होते भी सम्भव न था। क्योंकि राजा का कार्य केवल सिंहासनारूढ़ होकर प्रजा पर शासन करना नहीं था, अपितु राष्ट्र की सुरक्षा का दायित्व राजा पर था। वैदिक जन लड़ाकू थे, जिनके परस्पर युद्ध होते रहते थे, इन युद्धों का नेतृत्व सेना में स्वयं राजा को करना होता था। यद्यपि लड़ने का काम सैनिक का ही है तथापि युद्धक्षेत्र में सेना का संचालन स्वयं राजा करता था और सेनानी (सेनापति) राजा का मुख्य सहायक एवं मुख्य सेनाधिकारी था। उन दिनों के युद्ध ऐसे नहीं होते थे कि राजा और सेनानी युद्ध से दूर अपने भवनों से नीति निर्धारण करें—जैसा कि अब होता है। यह परम्परा भारत में अभी पिछली शताब्दि तक प्रचलित रही है जिसके उदाहरण में हमें महाराणा प्रताप, शिवाजी, रानी लक्ष्मीबाई का जीवन चरित्र उपलब्ध होता है। ऐसी स्थिति में राजा को नीरोग, शक्ति-सम्पन्न, निडर तथा शूर होना आवश्यक था। कहा भी है—"राजन्यः शूरइषव्योतिव्याधी महारथो जायताम्" अर्थात् राजा शूर, योद्धा, नीरोग, महारथी हो। परवर्त्ती साहित्य मनुस्मृति में तो स्पष्ट कहा गया है कि "संस्कार (राज्याभिषेक) होने पर राजा को यथा न्याय प्रजा की रक्षा करना चाहिए, अराजकता से प्रजा भयभीत होती है इसीलिये प्रजा की रक्षा के लिये राजा बनाया गया है (७/२-३)"

ऐसी स्थिति में राजा वंशगत होते भी उसी क्रम में चलें सम्भव नहीं है, कुछ तो स्वयं स्वेच्छा से यह पद त्याग देते होंगे और दुर्बल, रोगी, भीत होने

पर भी राज्याधिकारी नहीं हो सकते थे। विश्वामित्र ने जो कि राजवंशधर थे स्वेच्छा से राज्य त्याग किया था।

राज्य-व्यवस्था

भूमि का अधिपति राजा होता था, वह जिसे चाहे उसे दे सकता था, इसी से राजा 'क्षेत्रपति' 'क्षेत्रप' कहलाते थे। इसी क्षेत्रप से 'क्षत्रिय' हुए। राजा अपने विभिन्न विभागों की देख-रेख एवं मंत्रणा के लिये अमात्यों की नियुक्ति करता था और अमात्यों की मंत्रणा से कार्य करता था। अमात्यों में पुरोहित का स्थान सर्वोपरि था, पुरोहित का कार्य धार्मिक उपासना ही नहीं था अपितु पुरोहित के अर्थ थे—"पूर्ण रूप से हित चाहने वाला यह पद गौरवमय था, इनकी मंत्रणा अवश्य ली जाती थी। विदित होता है कि दाशराज्ञ युद्ध में पुरोहितों (विश्वामित्र, वशिष्ठ) का ही मुख्य हाथ था।

शासन व्यवस्था के लिये 'सेनानी' और 'ग्रामणी' दो महत्वपूर्ण पद थे। सेनानी सेना का सर्वोच्च अधिकारी था और नागरिक व्यवस्था का सर्वोच्च अधिकारी "ग्रामणी" था। छोटे स्तर पर ग्रामाधिपति, विशाधिपति होते थे, 'विश' सायद वीस ग्रामों के समूह को कहते थे ऐसा अनुमान मनुस्मृति से होता है। इसके अलावा विभिन्न विभागों के अलग-अलग अधिकारी थे जो अमात्यों के अधीन कार्य करते थे।

इन तथ्यों से विदित होता है कि ऋग्वैदिक काल में ही भारत में आदर्श शासन प्रणाली स्थापित हो चुकी थी।

वाह्य तथा आन्तरिक सुरक्षा

देश की सुरक्षा का प्रश्न एक सनातन और सार्वकालिक प्रश्न है। देश की आन्तरिक और वाह्य सुरक्षा ही राष्ट्र की समृद्धि का आधार स्तम्भ है। कोई भी राष्ट्र तब तक भौतिक या आध्यात्मिक समृद्धि की दिशा में प्रगति नहीं कर सकता, जब तक उसकी आन्तरिक और वाह्य सुरक्षा सुदृढ़ न हो। स्मृतियों तथा नीतिशास्त्रों में अनेक स्थानों पर इसकी चर्चा की गयी है। यथा—

'सुसंग्रहीत राष्ट्रो हि पार्थिवः सुख मेधते'।

अर्थात् देश की सुरक्षा से ही शासक सुखी रह सकता है। शासनतंत्र के हेतु राष्ट्र तथा प्रजा के प्रति नीतिशास्त्र और राजाज्ञाओं में जो कर्तव्य नियत किये गये हैं, उनमें राष्ट्र की रक्षा का दायित्व सर्वप्रथम है—'जैसे किसान अन्न देने वाले पेड़-पौधों की रक्षा करता है, और घास-फूस को उखाड़कर फेंक देता है वैसे ही शासक को शत्रुओं का नाश कर देश की रक्षा करनी चाहिए (राजधर्म)।' 'संसार में अराजकता के कारण प्रजा भय से व्याकुल हो जाती है। अतः सब की रक्षा हेतु ही शासक की सृष्टि हुई है।' इत्यादि।

राष्ट्रीय भावना और ऐक्य

राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए प्रजा में ऐक्य और राष्ट्र के प्रति निष्ठा ही महामंत्र है। जब तक प्रजा में ऐक्य और राष्ट्र निष्ठा भावना है, तब तक निर्बल राष्ट्र भी शत्रु से अच्छी तरह लोहा ले सकता है। राष्ट्रीय एकता की शक्ति वाह्य-आक्रमण से तथा आन्तरिक सुरक्षा के लिए सबसे बड़ी शक्ति है, जिसके अभाव में कितनी ही बड़ी और सुसज्जित सैन्य-शक्ति क्यों न हो, राष्ट्र सुरक्षित नहीं रह सकता। राष्ट्र में एकता का न होना सुरक्षा की दृष्टि से गम्भीर खतरा है। आक्रमणकारी देश विलगाव की भेद-नीति से ही अपने लक्ष्य की निर्बलताओं का पता लगाता है, और अवसर पाकर आक्रमण कर देता है। अतः राष्ट्र में सामाजिक और राजनीतिक ऐक्य आवश्यक है।

राजनीतिक ऐक्य का सर्वोत्तम उदाहरण महाभारत में दिया गया है। प्रतिशोध की बुद्धि वाले शकुनि से आयोजित कपटपूर्ण द्यूत-क्रीड़ा में हारने पर

युधिष्ठिर ने पहले ही दी गयी स्वीकृति के अनुसार पांचाली और भाइयों के साथ अरण्यवास आरम्भ किया। जब वे द्वैत-वन में निवास कर रहे थे; अपना वैभव जताकर उन्हें सताने के उद्देश्य से सुयोधन ने साज-सज्जा सहित वहाँ आकर डेरा जमा दिया। किन्तु वहाँ गन्धर्वों से उनकी ठन गयी। गन्धर्वराज चित्रसेन की सेना ने दुर्योधन सहित समस्त कौरवों को जीत कर वन्दी वना लिया। जो शेष वचे, वे युधिष्ठिर के पास पहुँचकर सुयोधन को मुक्ति दिलाने की प्रार्थना करने लगे। इस पर भीम कुछ झल्लाये, बोले—'वन्दी शत्रुओं को पाण्डव क्यों छुड़ायें ?' इसके उत्तर में धर्मराज युधिष्ठिर ने कहा—'जहाँ तक वाहरी आक्रमण का प्रश्न है, वहाँ वे १०० भाई और हम ५ भाई नहीं, अपितु कुल मिलाकर १०५ हैं। अतः पहले दुर्योधन आदि को मुक्ति दिलाओ, फिर हमारे आपसी गृह-विवाद का निवटारा होता रहेगा।' धर्मराज की यह व्यवस्था प्रत्येक देशवासी के लिए अनुकरणीय है।

ऐक्य के अभाव में जो कुपरिणाम सामने आते हैं उनसे राष्ट्र को सावधान करने के निमित्त ही रामायण, महाभारत जैसे महा-काव्यों की रचना हुई है। महावली वाली और त्रैलोक्य-विजयी रावण का पतन ऐसी ही दशा में हुआ है। अर्वाचीन इतिहास में भी शहाबुद्दीन गौरी और पृथ्वीराज तथा जयचन्द इसके साक्षी हैं। राष्ट्रीय एकता की साक्षी में भी विक्रमादित्य जैसी विभूतियों को हम जानते हैं, जिन्होंने राष्ट्र को एकता के सूत्र में पिरोकर शक-हूणों को देश से निकाल वाहर किया।

चरित्र की पवित्रता और दण्डनीति

राष्ट्र-रक्षा के उद्देश्य से दूसरी आवश्यकता है चरित्र की पवित्रता। शासक तथा प्रजा में जब तक चरित्र-वल न होगा, तब तक राष्ट्र स्थिर नहीं रह सकता। चरित्र का ह्रास दीमक के समान है, जो राष्ट्र को अन्दर से खोखला वना देता है। इसी हेतु नीतिशास्त्रों में कहा है—

'ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।'

अर्थात् ब्रह्मचर्य-पालन और वड़ी तपस्या से ही शासक राष्ट्र की रक्षा कर सकता है। 'यथा राजा तथा प्रजाः, उक्ति के अनुसार जैसा शासक का चरित्र होगा, वैसा ही उसकी प्रजा का भी हो जायगा। जो शासक स्वयं चरित्रहीन तथा भ्रष्टाचारी हो, उसे अधिकार भी क्या है कि वह प्रजा से सुचरित्र की आशा करे ? एतदर्थं शासक का चरित्रवान होना आवश्यक है।

इसी देश में अतीत में ऐसे निःस्वार्थ शासक और तपस्वी पैदा हुए हैं जिन्होंने निजी स्वार्थ से ऊपर उठकर राष्ट्र को स्वर्ग बनाने हेतु अथक श्रम किया, इसी कारण अमर बन गये। भ्रष्टाचार का उन्मूलन कर समस्त भूमि को उर्वरा और दोग्धी बनाने वाले राजा पृथु और पर्वतखण्डों के दुर्गम मार्ग से गंगा की धारा को अवतरित करा कर मैदानी भाग को कृषि योग्य बनाने वाले महातपस्वी भगीरथ इनमें प्रमुख हैं। दूसरी ओर वे शासक भी हैं जो स्वार्थ के वशीभूत होने के कारण स्वयं पद-च्युत हो गये। जैसे वेन, नहुष आदि।

मनु ने कहा है—

'जो शासक पीड़ित मनुष्यों के कठोर वचन सहता है, वह स्वर्ग में पूजित होता है। परन्तु जो प्रभुता के कारण दुःखियों के कठोर वचनों को सह नहीं सकता वह नारकीय दुर्गति को प्राप्त होता है (८।३१३)'। इससे स्पष्ट है कि शासक को आलोचनाप्रिय होना चाहिए; कम से कम आलोचना से डरना नहीं चाहिए। आलोचनाओं से आत्म-परीक्षण का अवसर मिलता है। किन्तु आज के चाटुकारिताप्रिय शासकों में यह गुण कहाँ ?

शासन में व्याप्त भ्रष्टाचार और चरित्रहीनता का प्रभाव जन-सामान्य पर होता है। राष्ट्र को प्रत्यक्ष डाकुओं से उतना भय नहीं होता, जितना कि अप्रत्यक्ष डाकुओं से। शासन के अधिकांश चापलूस और अकर्मण्य अधिकारी तथा भ्रष्ट व्यवसायी (घूसखोर, कम तौलने वाले, भाव बढ़ा देने वाले, मिलावट करने वाले) को वेद में (यजुर्वेद ११।७८,७९,८०) तथा नीतिशास्त्रों में (नीति वाक्यामृत) अप्रत्यक्ष चोर कहा गया है, जो न्याय को, यहाँ तक कि, ईश्वर को भी चमका देने का दुस्साहस करते हैं। राष्ट्र की सुरक्षा हेतु इनसे गम्भीर खतरा होता है, जो राष्ट्र को अन्दर से खोखला कर देते हैं। ऐसा राष्ट्र संकट के समय ठहर नहीं सकता।

एतदर्थ दण्डनीति में भी कठोरता आवश्यक है। और उसमें कोई पक्षतात या सिफारिश नहीं होनी चाहिए।

सैन्यबल और कोष-व्यवस्था

जहाँ तक बाह्याक्रमण का प्रश्न है, इसमें सैन्यबल ही मुख्यतः सहायक होता है। दूसरा है कोषबल; क्योंकि सैन्य-शक्ति का संचालन धन ही से हो सकता है। नीतिकारों ने कहा है—

राष्ट्र रक्षा के प्रति जन-भावना

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्या ।
नमो मात्रे पृथिव्यै, नमो मात्रे पृथिव्यै ॥
(अथर्ववेद)

अर्थात् 'भूमि हमारी माता है, मैं पृथ्वी का पुत्र हूं, पृथ्वी माता के लिए नमस्कार', अथर्ववेदकी यह ऋचा राष्ट्र के प्रति नागरिक के कर्तव्यों को स्पष्ट करने वाली बड़ी ही भावमय है। अवश्य ही भूमि हमारी माता है, हमें जन्म देने वाली, बाल्यकाल में पालन करने वाली माँ के प्रति जितना हमारा कर्तव्य है, उससे बढ़ कर भू-माता के प्रति हमारा कर्तव्य है, क्योंकि पृथ्वी माता हमारी माता की भी माता हैं, उसने भी इसी भूमि में जन्म लिया, इसी भूमि पर, इसी भूमि के अन्न-जल से पली और हम भी मरण पर्यन्त इसी भूमि पर इसी के अन्न-जल से पलेंगे तथा इसी प्रकार आगे भी सैकड़ों पीढ़ियां पलेंगी। अत: जन्मदाता माता से पृथ्वीमाता का महत्व अवश्य ही अधिक है।

माता के प्रति जन साधारण के कर्त्तव्य की एक अन्य ऋचा में स्पष्ट किया गया है— 'हे मातृभूमे! जो मानव तुझमें उत्पन्न हुए, जो तुझमें विचरण करते हैं तथा जिन्हें तू धारण करती है, वे सब तेरी सेवा करें। इसके बाद यह भी स्पष्ट किया गया है कि माता की सेवा कैसे हो ?

पृथिव्या निः शशा अहि,
अर्चन्अनु स्वराज्यम्

अर्थात् मातृ भूमि पर आक्रमण कर उसे दासता की जंजीरों से बांधने वाले शत्रुओं को नष्ट कर स्वराज्य की स्थापना ही मातृ सेवा है।

'यते महि स्वराज्ये'
'उपसर्पमातरं भूमि'

अर्थात् 'स्वराज्यके हेतु प्रयत्न करते रहो', मातृ भूमि का दासता से उद्धार करो इत्यादि।'

इन ऋचाओं से स्पष्ट है कि वाह्याक्रमणोंसे राष्ट्र की रक्षाका जन-साधारण पर महान् दायित्व है।

'राष्ट्ररक्षा की यह उदात्त परम्परा वैदिक युग से अद्यावधि अविच्छन्न रूप से चली आ रही है। शिक्षा समाप्ति पर जब स्नातक सामाजिक क्षेत्र में प्रवेश को उद्यत होता है, तभी उसे इस पुनीत कर्त्तव्य के प्रति सजग किया जाता है—

'राष्ट्र देवो भव। मातृ देवो भव। पितृ देवो भव।
आचार्य देवो भव। अतिथि देवो भव।

राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्यों से सावधान रहो, माता-पिता, गुरु तथा अतिथि के प्रति अपने कर्त्तव्य-पालन में सावधान रहो।'

जो मानवीय गुण मनुष्य मात्र के लिए समान भाव से पालन करने योग्य हैं। (अहिंसा, सत्य, अस्तेयादि) उन्हें सामान्य धर्म (कर्तव्य) कहा गया है। इसके अतिरिक्त देशधर्म, कुलधर्म, शिष्य धर्म आदि व्यक्तिगत रूप से मानव जीवन में अनेक दायित्व हैं। राष्ट्र के प्रति हमारा क्या कर्तव्य है—राष्ट्र की सम्पत्ति की रक्षा, राष्ट्र के उत्थान में मनसा-वाचा कर्मणा सहयोग—यही राष्ट्र धर्म या देश धर्म है।

उदारता कायरता नहीं

भारतीय संस्कृति सदैव जिजीविषु रही है, हम जियें, सभी सुखी हों, सभी निरामय हों यही हमारा सनातन आदर्श रहा है—

"मात्वाहिंसीन्मामाहिंसी' 'न तुम मुझे मारो और न मैं तुम्हें मारूं'।
हिंसयादूयते चित्तं यस्यासौ हिन्दूरिति

अर्थात् हिंसासे जिसका चित्त दुःखी हो वह हिन्दू है। हमारी इस उदार अहिंसा नीति में अति गूढ़ अर्थ निहित है—'नमो मात्रे पृथिव्यै-नमो मात्रे पृथिव्यै' इस शब्दको अथर्ववेद में जिस भांति दुहराया गया है, उसका अर्थ भी द्विधा है। एक में तो पृथ्वी का मातृत्व सिद्ध कर उसके प्रति कर्तव्यों से सावधान किया है, और दूसरे पद में विश्व-बन्धुत्व का भाव निहित है। पृथ्वी जब हमारी माता है, तो निःसन्देह पृथ्वी के सभी जीव हमारे भाई हैं और मानव मात्र क्या जीवमात्र के प्रति हमारा भ्रातृत्व और समानता का भाव होना आवश्यक है। इसी हेतु भारतीय नीति युद्ध, रंगभेद, साम्प्रदायिकता आदि इस प्रकार के कृत्यों की विरोधी है जो समान भाव, ऐक्य, सह अस्तित्व के विपरीत हो, जिससे विश्व बन्धुत्वकी भावना नष्ट होती हो अतः भारतीय संस्कृति की उदारता को कायरता मान लेना महामूर्खता होगी।

भारतीय संस्कृति में क्षमा का विशिष्ट स्थान है। हमारी संस्कृति दयालु है, एतदर्थ वह युद्ध की ज्वाला को जहां तक हो टालने का प्रयत्न करती है, युद्ध के नरसहार के प्रति उसमें करुणा है, वह आततायी को भी क्षमा-दान देकर शान्ति की इच्छुक है। इतिहास साक्षी है—द्यूतछल से राज्य हरने वाले कौरवों के प्रति पांडवों ने, और स्त्री-हारी राक्षसराज रावण के प्रति पुरुषोतम राम ने भी शान्ति प्रस्तावों से युद्ध रोकने के प्रयत्न किये थे और इन युद्धों के परिणाम से स्पष्ट है कि यह उनकी दुर्बलता नहीं थी—केवल दयालुता थी।

भारतीय संस्कृति किसी वाह्याक्रमण के प्रति आततायी के समक्ष आत्मसमर्पण करना नहीं जानती है, यदि कहीं से युद्ध की चुनौती मिलती है तो भले ही उसका परिणाम जो भी हो 'यतो धर्मस्ततो जयः' अपने न्यायपक्ष के लिए यह चुनौती सहर्ष स्वीकार होगी—

समोत्तमाधमैं राजा त्वहूतः पालयन्प्रजाः।
न निवर्तेत संग्रामात्क्षात्रं धर्ममनुस्मरन्॥

मनुस्मृति ७।८७

अर्थात् शासक को चाहिये कि यदि कोई शत्रु राष्ट्र युद्ध के हेतु चुनौती दे, भले ही वह अपने से अधिक वली हो, समान वली हो, या कम बल का हो, तब 'युद्ध ही क्षत्रिय का धर्म है', यह स्मरण कर उसे सहर्ष स्वीकार करे।

इसी भूमि पर तो गीता का उपदेश दिया गया था, तब अर्जुन भ्रातृ वध, से भयभीत हुआ। स्वयं श्री कृष्ण ने कहा—आततायी कोई भी है, वध के योग्य है अतः 'युद्ध करो.' इससे तुम्हें कोई पाप नहीं लगेगा—

'ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि'

नीति कहती है—'शासक को चाहिये कि वह अपने अपराधी पुत्र को भी क्षमा न करे, ऊचित दण्ड दे।' ऐसी दशा में आततायी के प्रति आत्मसमर्पण कभी नहीं किया जा सकता। आज भी भारत के आकाश में हतो वा प्राप्यसि स्वर्गं' जित्वा वा भोक्ष्यसे मही (या तो युद्ध में मरकर स्वर्ग मिलेगा या पृथ्वी को भोगो)', 'सूच्यग्रं नैवदास्यामि विना युद्धेन केशवः (विना युद्धके सूई के नोक भर भूमि भी न दूंगा)', महा-भारत के ये शब्द गूंज रहे हैं भारत का प्रत्येक नागरिक आततायी की दासता या उसके हाथ से मरने से स्वर्ग या भोग' के लक्ष्य से युद्ध भूमि में प्राण त्यागना अच्छा समझेगा।

आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो—महीक्षितः ।
युद्धमाना ।: परं शक्त्या स्वर्गंयांत्यपरांमुखाः ॥—
(मनु:७।८६)

सामान्यतः शान्तिकालमें राष्ट्ररक्षा का क्षत्रिय (सेना) वर्ग पर ही दायित्व है, किन्तु राष्ट्रकी आततायियों से रक्षा करने हेतु संकटकालमें मानव-मात्रको शस्त्र धारण के निर्देश मिले हैं—

अभ्युत्थिते दस्युवले क्षयार्थं वर्णसंकरे ।
सं प्रमूढेपु क्षत्रेषुयदन्योपि भवेद्वली ॥
व्राह्मणो यदि वा वैश्यः शूद्रो वा राजसत्तमः ।
दस्युभ्योऽथ प्रजारक्षेद् दण्डं धर्मेण धारयन् ॥—
(महाभारत — भीष्मपर्व)

अर्थात् राष्ट्र में दस्युवल उत्पन्न होने पर (शत्रु राष्ट्र द्वारा वाह्याक्रमण, अथवा राष्ट्रके अन्दर ही चोरी, डकैती आदि से प्रजा पीड़ा (होने पर), वर्ण संकरो के क्षय हेतु, जव क्षत्रिय वल (सैन्य-वल) रक्षा में पूर्ण समर्थ न हो, या किसी बली आततायी से भिड़न्त हो जाने पर व्राह्मण (बुद्धिजीवी — लेखक, अध्यापक, पुरोहित, धर्माचार्य इत्यादि) वैश्य (व्यवसायी — सामान्य व्यापार या बौद्धिक व्यवसाय, वकालत, चिकित्सा, पशुपालक, कृषक आदि) हों— या शूद्र (अन्य पिछड़ा वर्ग, हरिजन) हों—प्रत्येक नागरिक को दण्ड (शस्त्र) धारण कर दस्युओं से राष्ट्रकी रक्षाकरनी चाहिए, यही उनका धर्म है । अन्यत्र भी कहा, है—

'व्राह्मणस्त्रिषु वर्णेपु शस्त्रगृह्णन्न दुष्यति'

हमारे नीतिशास्त्रों के ये निर्देश वास्तव में हमारी संस्कृति के अनुरूप ही हैं । राष्ट्र माता जन्म-भूमि पर संकट के क्षणों में माता का प्रत्येक सपूत मातृ रक्षा के हेतु शस्त्र-ग्रहण कर अपना कर्तव्य पूर्णतः निवाहेगा । यही नहीं, तन,मन तथा धनसे भी मनसा-वाचा-कर्मणा राष्ट्र रक्षा के उद्योगों में जन साधारण का पूरा सहयोग प्राप्त होगा—मातृ-ऋण से उऋण होने का यही तो मार्ग है ।

'जननी जन्मभूमिच स्वर्गादपि गरीयसी'

मातृ भूमिके समक्षस्वर्ग भी तुच्छ है । इसी उदात्त भावनाओं से मातृभूमि के रक्षा हेतु बलिदान होने की भारतीय इतिहास में अखण्ड परम्परा रही है । माता के प्रति अपने कर्तव्यपालन में भारतीय संस्कृति में सनातन जागरूकता है ।

मानव की कल्पना है कि किसी प्रकार उसे अपने कर्तव्य को पूरा करने का अवसर तो मिले—ताकि वह मातृ-ऋणसे उऋण हो सके। वैदिक मानवने इसी उद्देश्य से अग्नि से विनम्र प्रार्थना की है कि हे अग्ने, बाल्यकालमें तथा अपने जीवन में जो कुछ मैंने माताको पैरोंसे कुचला और मेरे पालन में उन्होंने जो अकथनीय कष्ट सहें, उन सम्पूर्ण ऋणों से मैं उऋण हो जाऊं—

यदा पिपेष मातरं
पुत्रः प्रमुदितो धयन्।
एतत्तदग्ने अनृणो
भवाम्यहतौ पितरौ मया ॥
(यजुर्वेद १९/११)

इसी शाश्वत भावना से अवसर आनेपर माता के प्रत्येक सपूत देहमें रक्त की अन्तिम बूंद तक माता की रक्षा करने में अपनी देह को उत्सर्ग कर धन्य होंगे।
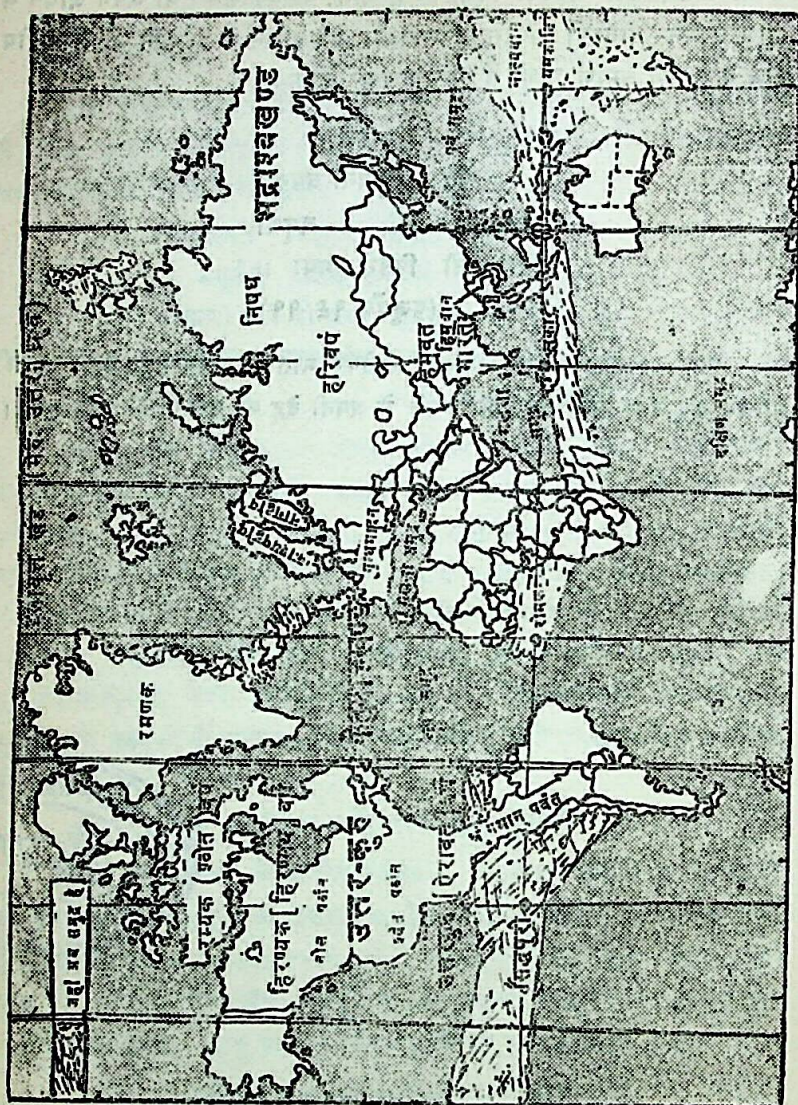
प्राचीन विश्व का मानचित्र

पुराण-कालीन प्रमुख भारतीय प्रदेश या राज्य

अष्टादश महापुराण, महाभारत तथा अन्य समकालीन संस्कृत साहित्य में प्राचीन भारत के प्रदेशों एवं जनपदों (राज्यों) के जो नाम प्राप्त होते हैं वे आज तक बदल चुके हैं। इनमें से अनेक नामों का उल्लेख अलबेरुनी ने भी किया है। इन पुरातन नामों वाले प्रदेशों का वर्तमान में क्या नाम है और इनकी स्थिति कहाँ पर है—यदि इस विषय पर लिखा जाय तो एक पूरा ग्रन्थ ही बन जायगा। यहाँ पर पुराणों में उपलब्ध जनपदों (प्रदेशों या राज्यों) के केवल नामों का उल्लेख कर रहे हैं। निम्न सभी प्रदेश (राज्य) भारत में थे अथवा भारत की सीमाओं पर स्थित थे और इन प्रदेशों के राजाओं ने महाभारत युद्ध में भाग लिया था।

उत्तर भाग में स्थित प्रदेश

वाहीक, वाटधान, आभीर, कालतोयक, अपरान्त (अपरीत), परान्त (शूद्र), पल्लब (पह्लव) चर्मखण्डिक, गान्धार, यवन, सिन्धु, सौवीर, मद्रक, चीन, तुषार, गिरिगह्वर, शक, ह्रद, (भद्र) कुलिन्द (कुनिन्द), पारद, हारपूरिक (हारमूर्तिक), (रमठ), कण्टकार (करकण्ठ, रुद्धकटक), केकेय, दशमालिक (दाशमीय), क्षत्रियोपानिवेश, वैश्यशूद्रकुल, काम्बोज, दरद, बर्बर, आत्रेय, भरद्वाज, दशेरक, लम्पाक, प्रस्थल, उलूत, तोमर (तामर), हंसमार्ग, काश्मीर, तंगण, दाव अभिसार, चूडिक, आहूक, अपग, बाह्लीक, शिवि, वसाती, उरसा, सुवास्तु, क्षुद्रक, मालव, अम्बष्ठ और यौधेय।

मध्यस्थ प्रदेश

कुरु (भरत), पांचाल, शाल्व, मद्र जांगल, शूरसेन, भद्रकार, बोध, पटच्चर, चेदि, बत्स, मत्स्य, कुशल्य (कुल्य), कुन्तल, काशी, अपरकाशी, कोसल, कुलिंग, मगध, उत्कल और दशार्ण।

पूर्व में स्थित प्रदेश

अंग, बंग, सुम्ह, प्राग्ज्योतिष, पुण्ड्र, बिदेह, ताम्रलिप्तक, मल्ल, मगध, गोनर्द।

विन्ध्यालय के पृष्ठवर्ती प्रदेश

मालव, करूष, दशार्ण, भोज, तोसल, कोसल, त्रैपुर, वैदिश, तुहुण्ड, तुण्डिकेर, निषध, वीतिहोत्र (अवन्ति)।

दक्षिणी प्रदेश

पाण्ड्य, केरल, चोल, मूषिक, वनवासी, महाराष्ट्र (नवराष्ट्र), माहिषक, कलिंग (अनेक) आभीर, वैदर्भ, दण्डक, मूलक, अश्मक, कुन्तल और आन्ध्र।

पश्चिमी प्रदेश

शूर्पकार (सूर्पारक), कारस्कर (अनेक), नासिक, भरुकच्छ, माहेय, सारस्वत, काच्छीय, सुराष्ट्र, आनर्त, आनर्त, अर्बुद।

इस प्रकार १२१ से अधिक मुख्य प्रदेशों या राज्यों का पता चलता है। यह छोटे-मोटे राज्य रहे होंगे। इनमें कुछेक नाम ही में प्रचलित रह गये हैं जैसे—काश्मीर, बंग (बंगाल), कुरु (कुरुक्षेत्र) काशी, केरल, महाराष्ट्र, आन्ध्र, भरुकच्छ (भड़ौच), नासिक आदि।

सुप्रसिद्ध इतिहासकार पं० भगवद्दत्त ने इन राज्यों की स्थिति के बारे में (भारत वर्ष का इतिहास) विस्तार से विवेचन किया है।

आचार्य भास्करानन्द लोहनी र
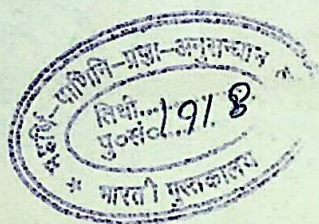
ज्ञानवर्धक पुस्तकें

१- वार्षिक व्रतोत्सव पूजा विधानम्
२- ज्योतिष मकरन्द (भाग १)
३- ,, ,, (भाग २) संशोधित मूल्य
४- ,, ,, (भाग ३) संशोधित मूल्य
५- भारतीय लोक संस्कृति एवं लोकोत्सव
६- भारतीय संस्कृति गौतम से गांधी तक संशोधित मूल्य
७- सूतक निर्णय रु० १/-
८- स्वप्न विवेचन ८/-
९- अंक विज्ञान एवं अंक संहिता २०/-
१०- गोचर तथा अष्टक वर्ग २५/-
११- पुराण-मंथन (अष्टादश महापुराण व समकालीन)
संस्कृत साहित्य तुलनात्मक अध्ययन १२५/-
१२- सचित्र सामुद्रिक नवनीत रु० २५/-
१३- ज्योतिष-नवनीत (होरागणित) पूर्व खण्ड रु० ६०/-
१४- ,, ,, ,, उत्तर खण्ड (पुरस्कृत) रु० १६०/-
१५- रत्न विवेचन (पुरस्कृत) रु० २५/-
१६- ज्योतिष-संहिता (फलित का अद्भुत ग्रन्थ) रु० १२५/-
१७- भारतीय ऋतु विज्ञान रु० २०/-
१८- गीता का तात्विक विवेचन परिवर्धित संस्करण छप रहा है
१९- दुनिया सैकड़ों वर्ष पहले संस्करण समाप्त है
२०- वैदिक साहित्य और संस्कृति ,, ,,
२१- ज्योतिर्विज्ञान ब्रह्माण्ड परिचय ,, ,,
२२- सचित्र हिमालय ,, ,,
२३- परिवार पुराण ,, ,,
२४- पौराणिक साहित्य और संस्कृति ,, ,,
२५ ब्रह्माण्ड तथा अन्तरिक्ष विज्ञान (पुरस्कृत) संस्करण समाप्त है

उपरोक्त मूल्य में ६-०० (रजिस्ट्री व्यय) जोड़कर मूल्य पेशगी भेजें। वी० पी० नहीं होगी। पूछताछ हेतु जवाबी पत्र भेजें।

आग्रहायण प्रकाशन, १५, चांदगंज गार्डेन, लखनऊ-२२६०२०